प्रकाशक—
प्रेमशंकर आर्य
प्रेम पुस्तक भण्डार, बरेली।

मूल्य
सादी १॥) सजिल्द २।)

मुद्रक—
मेवालाल गुप्त,
बम्बई प्रिंटिंग काटेज,
बाँसफाटक, बनारस।

भूमिका

वेद के सम्बन्ध में अनेक संशय देशवासियों में उत्पन्न हो चुके थे और अब भी हैं। मुख्यतया उसके दो कारण हुए:—(१) विकासवाद से यह भ्रम उत्पन्न हो गया कि किसी वाह्य शक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्ति की ज़रूरत नहीं, ज्ञान तो स्वयमेव क्रमशः वृद्धि हो जाती है। (२) पश्चिमीय विद्वानों के लेख, जिनका टोन कुछ इस प्रकार का था कि वैदिक भाषा आदिम भाषा नहीं, किन्तु किसी अन्य आदिम भाषा से उसका विकास हुआ है तथा वैदिक सभ्यता भी आदिम सभ्यता नहीं। ये दोनों बातें यद्यपि निर्मूल जैसी थीं, परन्तु गलत बातों का भी कुछ-न-कुछ प्रभाव हो ही जाता है चाहे वह क्षणिक ही क्यों न हो। इन बातों ने भी देशवासियों पर अपना प्रभाव डाला और वे कुछ भ्रम में पड़े भी। इस पुस्तक की रचना का मुख्यतया उद्देश्य इन्हीं भ्रमों का दूर कर देना है। पुस्तक का दूसरा उद्देश्य यह भी है कि जनता में वेद की आन्तरिक शिक्षाओं का प्रसार हो जिससे वह स्वयं भी वेद की जानकारी प्राप्त करके उससे लाभ उठावे।

पहले उद्देश्य की पूर्ति के लिये जहाँ तर्क और प्रमाणों से काम लिया गया है, वहाँ दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिये वेद मंत्रों का अच्छा संग्रह पुस्तक के अन्त में किया गया है। उनसे जहाँ वेद का आन्तरिक ज्ञान प्राप्त होगा, वहाँ दूसरी ओर वे दैनिक स्वाध्याय के भी काम में आ सकेंगे।

इन थोड़े से शब्दों के साथ ग्रन्थ जनता की भेंट किया जाता है।

नारायण-आश्रम, रामगढ़।
ज्येष्ठ शुक्ल १० संवत् २००१ वै०

—नारायण स्वामी

विषय-सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

वेद और वेद से सम्बन्धित विषय

तीसरा अध्याय

उपहार

श्री ________________________________

____

____

को सप्रेम भेंट

____

____

देहली और पंजाब

की

सार्वदेशिक सभा और आर्य धर्म की

समस्त पुस्तकें

नीचे लिखे पते से मँगाइये

पता—

प्रेम पुस्तक भण्डार, बरेली

ओ३म्

वेद-रहस्य

पहला अध्याय

प्रारम्भ

मनुष्य का स्वाभाविक ज्ञान पशुओ से कम है। गाय, बैल आदि पशुओं के बच्चे स्वभावतः तैरना जानते है परन्तु मनुष्य सीखे बिना नहीं तैर सकता। मनुष्यो को पशुओ से जो विशेषता प्राप्त है, उसका कारण यह है कि वह नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करने और प्राप्त करके उसकी वृद्धि करने की योग्यता रखता है। यही नैमित्तिक ज्ञान, मनुष्यत्व की भित्ति ऊंची किया करता है। इसी योग्यता का लगभग अभाव, पशुओ को ऊँचा होने से रोक दिया करता है। स्वाभाविक ज्ञान जन्म सिद्ध होता है—परन्तु नैमित्तिक ज्ञान अन्यों से प्राप्त किया जाता है। इस समय वह माता, पिता और अध्यापक वर्ग से प्राप्त किया जाता है। परन्तु जगत् के प्रारम्भ में, जिसे दुनिया की पहली नस्ल कहा जाता है, अमैथुनि सृष्टि होने के कारण, उसे कोई शिक्षा देकर नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करानेवाला नहीं होता। इस सम्बन्ध मे अमैथुनि सृष्टि का समझ लेना कदाचित् उपयोगी होगा—

अमैथुनि सृष्टि

महाप्रलय मे जगत् का अत्यन्ताभाव हो जाता है। कार्य्यरूप मे परिणत प्रकृति का चिह्न बाकी नहीं रहता, न कोई लोक बाकी रहता

है। सूर्य चन्द्र आदि सभी लोक लोकान्तर कारण रूपी प्रकृति की गोद में शयन करने लगते है। ऋग्वेद में इसी सत, रज और तम की साम्यावस्था अथवा जगत् के कारण रूप प्रकृति में लीन हो जाने के लिये "तमासीत्तमसागूढ़मग्रे" (ऋग्वेद १०।१२९।३) कहा गया है। प्रचलित विज्ञान ने भी इस महाप्रलयवाद का समर्थन किया है। क्लाशियस (The founder of the mechanical theory of heat) ने ताप को दो भागो मे विभक्त किया है। (१) ब्रह्माण्ड में उपस्थित ताप स्थिरता के साथ काम में आता रहता है। (२) दूसरा काम मे न आनेवाला ताप, अधिक से अधिक हो जाने की ओर प्रवृत्त रहता है। इसकी प्रवृत्ति भीतर को ओर होने की होती है। यह दूसरी शक्ति ताप रूप मे होकर शीतलता प्राप्त वस्तुओं मे बँट कर आगे ताप रूप में काम मे आने के अयोग्य हो जाती है। पहले प्रकार का ताप काम मे आ-आकर कम होता रहता है और दूसरा काम मे न आने वाला ताप, पहले ताप के व्यय से, बढ़ता रहता है। इस प्रकार ब्रह्मांड की कर्तृत्व शक्ति दूसरे प्रकार के ताप रूप में परिवर्तित होती रहती है और काम में नहीं आया करती। यह कम होते-होते जगत् से शीतोष्ण के अन्तरों को दूर कर देती है और पूर्णरूप से उन वस्तुओं में समाविष्ट हो जाती है जिन्हें गति-शून्य और काम के अयोग्य द्रव्य कहते हैं। ऐसा हो जाने पर प्राणियों का जीवन और गति समाप्त हो जाती हैं। जब यह दूसरा ताप पहले को समाप्त करके पूर्णता प्राप्त कर लेता है तभी महाप्रलय हो जाता है।*

---

* The energy of universe is constant It is convertible into work The entropy of the universe tends towards a maximum (It is not convertible into work) Entropy is force that is directed inwards, this energy already converted into heat and distributed in the cooler masse's, is irrevocably lost as far as any further work is concerned. The entropy is continuously increasing at the cost of the other heat (The first

इस अवस्था को प्राप्त हो जाने और नियत अवधि तक कायम रहने के बाद जब जगत उत्पन्न होता है, तब प्रत्येक लोक क्या और प्रत्येक योनि क्या, नये सिरे से ही बनती है। यहाँ लोक नहीं किन्तु योनि के उत्पन्न होने के सम्बन्ध में विचार करना है:—भिन्न-भिन्न प्राणियो के शरीर जैसा वैशेषिक दर्शन मे लिखा है* दो प्रकार के होते है—

(१) "योनिज" जो माता पिता के संग से उत्पन्न होते है, जिसे मैथुनि सृष्टि कहते है।

(२) "अयोनिज" जो विना माता पिता के संयोग के उत्पन्न होते है और जिसे अमैथुनि सृष्टि कहते है। समस्त प्राणी जो जगत् मे उत्पन्न होते है, उनकी उत्पत्ति चार प्रकार से होती है:—

(१) जरायुज—जिनके शरीर जरायु (झिल्ली) से लिपटे रहते है और इस जरायु को फाड़कर, उत्पन्न हुआ करते है, जैसे मनुष्य, पशु आदि।

---

kind of energy) × × × As therefore the mechanical energy of the universe is daily being transferred into heat, and this cannot be reconverted into mechanical force, the sum of heat and energy in the universe must continually tend to be reduced and dissipated. All difference of temperature must ultimately disappear and completely the latent heat must be equally distributed through one invert mass of motionless matter.

All organic life and movement must cease when this maximum of entropy has been reached, that would be a real end of the world.

*तत्र शरीर द्विविधं योनिजमयोनिज च। (वैशे० ४।२।६)

नोट—इस सूत्र के भाष्य में, आचार्य प्रशस्तपाद ने लिखा है कि जल, अग्नि और वायु से उत्पन्न शरीर अयोनिज होते है। आचार्य प्रशस्तपाद की यह बात प्रशस्त नहीं है।

(२) अंडज—जो अण्डों से उत्पन्न होते हैं, जैसे पक्षी, साँप, मछली आदि।

(३) स्वेदज—जो पसीने और सील आदि से उत्पन्न होते हैं।

(४) उद्भिज—जो पृथिवी फाड़कर उत्पन्न होते हैं, जैसे वृक्ष आदि। इनमे से अन्तिम दो की तो सदैव अमैथुनि सृष्टि हुआ करती है और प्रथम दो की मैथुनि और अमैथुनि दोनों प्रकार की सृष्टि हुआ करती है।

अमैथुनि सृष्टि का क्रम

भूतों की उत्पत्ति के वाद, पृथिवी से औपधि, औषधि से अन्न, अन्न से वीर्य (वीर्य से तात्पर्य रज और वीर्य दोनों है) और वीर्य से पुरुष उत्पन्न होता है।* चाहे मैथुनि सृष्टि हो या अमैथुनि दोनों मे प्राणी रज और वीर्य के मेल से ही उत्पन्न हुआ करता है।

मैथुनि सृष्टि मे, रज और वीर्य के मिलने और गर्भ की स्थापना का स्थान, माता का पेट हुआ करता है परन्तु अमैथुनि सृष्टि मे मेल का स्थान, माता के न होने से, माता के पेट से वाहर हुआ करता है। प्राणि शास्त्र के विद्वान् वतलाते हैं कि अव भी ऐसे जन्तु पाये जाते हैं जिनके रज और वीर्य माता के पेट से वाहर ही मिलते हैं और उन्हींसे वच्चे उत्पन्न हो जाते हैं। उनमे से कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है:—

(१) समुद्रो मे एक प्रकार की मछली होती है जिसकी मादा मछलियों मे नियत ऋतु में वहु संख्या मे रज-कण (ove) प्रकट हो जाते हैं और इसी प्रकार नर मछली के अण्डकोशो मे जो पेट के नीचे (within the abdominal cavity) होते हैं वीर्य-कण (Zoosperms) प्रादुर्भूत होने लगते है। जव मादा मछली किसी जगह

---

* तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः। रेतसः पुरुषः। (तैतिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द वल्ली, प्रथम अनुवाक)।

अण्डे देने के लिये रज-कणों को, जो हजारों की संख्या में होते हैं, गिराती है (वह जगह प्रायः जल की निचली तह में रेतेली अथवा पथरीली भूमि होती है) तब उसी समय नर वहाँ पहुँचकर उन रज-कणों पर वीर्य-कणों को छोड़ देता है जिससे पेट के बाहर ही गर्भ की स्थापना होकर अण्डे बनने लगते हैं।

(२) इसी तरह एक प्रकार के मेंढक होते हैं जो रज और वीर्य-कण बाहर ही छोड़ते है। नर मेंढक मादा मेंढक की पीठ पर बैठ जाता है जिससे मादा के छोड़ते हुये रज-कणों पर वीर्य-कण गिरते जायँ और इस प्रकार मेंढकी के पेट से बाहर ही, इनके अण्डे बना करते है।

(३) एक प्रकार के कीट जिन्हें टेप वर्म (Tape worm) कहते हैं और जो मनुष्यो के भीतर पाचन-क्रिया की नाली (Human digestion canal) में पाये जाते हैं। २० हजार अण्डे एक साथ एक कीट देता है। एक अण्डे से जब कीट निकलता है तो उसका एक मात्र शिर हुकों के साथ जुड़ा हुआ होता है। (It consist simply a head with hook) उन हुको के द्वारा वे आँतो की श्लैष्मिक (Mucous membranes of the intestine) से जुड़ जाता है और उसी शिर से उसका शरीर विकसित होता है और इस प्रकार उत्पन्न हुआ शरीर अनेक भागो (Segments) मे विभक्त हो जाता है। वे इस प्रकार संख्या और आकार मे बढ़ते जाते है। प्रत्येक भाग मे स्त्री पुरुष के अंग होते है। जिनसे स्वयमेव बिना किसी बाह्य सहायता के गर्भ की स्थापना हो जाती है। कुछ काल के बाद पुराने भाग (Segments) पृथक् होकर स्वतन्त्र कीट बन जाया करते हैं। इत्यादि।

इन उदाहरणों से यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि यह सर्वथा सम्भव है कि रज और वीर्य का सम्मेलन माता के पेट से बाहर हो और उससे प्राणी उत्पन्न हो सके।

इसी मर्यादा के अनुसार अमैथुनि सृष्टि मे, मनुष्य का शरीर

बनानेवाले रज और वीर्य का मेल, माता के पेट से बाहर होकर वृक्षों के चौड़े पत्ते रूपी झिल्ली मे, गर्भ की तरह सुरक्षित रहते हुए बढ़ता रहता है। रज और वीर्य किस प्रकार झिल्ली में आकर मिल जाते हैं, इसका अनुमान फूलो के पौधों की कार्य-प्रणाली से किया जा सकता है। फूलो के पौधे नर भी होते हैं और मादा भी—नर पौधों से पक्षी वीर्य-कण लाकर, मादा पौधों के रज-कणो पर छोड़ देते है जिससे फूल और फल की उत्पत्ति हो जाती है। इसीलिये पक्षियों को फूलो का पुरोहित (Marriage priest of flowers) कहा करते हैं। अस्तु, जब प्राणी इस बाह्य गर्भ मे इतना बड़ा हो जाता है कि अपनी रक्षा आप कर सके तब वह पत्ती रूपी झिल्ली फट जाती है और उसमें से प्राणी निकल आया करता है। इसीका नाम अमैथुनि सृष्टि है।

एक कीट का उदाहरण

किस प्रकार बिना प्राणियो के यत्न के रज और वीर्य का स्वयमेव सम्मेलन तथा प्राणी के पुष्ट और कार्य्य करने के योग्य हो जाने पर, झिल्ली का अपने आप फट जाना आदि अलौकिक रीति से हो जाया करता है? इसके लिये एक उदाहरण दिया जाता है:—मैं जब गुरुकुल वृन्दावन मे था तो गुरुकुल की वाटिका मे बने एक बॅगले मे रहा करता था—उस बॅगले के चारो ओर सुदर्शन के पौधे लगे हुए थे। इस सुहावने पौधे मे एक प्रकार का कीड़ा लग जाता था जिससे उसके पत्ते और फूल सब खराब हो जाया करते थे। उस कीड़े की जॉच करने से कि वह कहाँ से आ जाया करता था, निम्न बातें प्रकट हुई:—

जब इस पौधे मे नये पत्ते निकले तो ध्यानपूर्वक देख-भाल करने से पता लगा कि एक काले रग की, तमाखू की तरह की, कोई चीज कहीं से आकर एक पत्ते पर जम गई और दो चार दिन के बाद किसी अज्ञात विधि से, वह पत्ते के मोटे दल और झिल्ली के बीच मे आ गई। देखने से साफ मालूम होता था कि यह वही काली वस्तु है जो पत्ते के मोटे और पतले दलो के बीच मे आ गई है। एक सप्ताह के

भीतर अब उस वस्तु के एक ओर का पतला पत्ते का दल (झिल्ली) भी इतना मोटा हो गया कि अब वह वस्तु एक गाँठ की तरह पत्ते मे मालूम होने लगी। उसका रूप और रंग कुछ दिखाई नहीं देता था। अब वह चीज क्रमशः पत्ते के भीतर लम्बाई मे बढ़ती हुई दिखाई देने लगी और दस दिन के भीतर, उसकी लम्बाई लगभग दो इञ्च के हो गई। ऐसा हो जाने के बाद एक सप्ताह के भीतर वह पत्ता फट गया और उसमे से एक हरे रंग का कीड़ा जो दो सुनहरी रेखाओ से, तीन हिस्सो मे, मनुष्य के हाथों की छोटी उँगली की तरह विभक्त था निकल आया—यही कीड़ा सुदर्शन के पत्तो और फूलो को खा-खाकर खराब कर देनेवाला सिद्ध हुआ। इस कीड़े को, एक शीशे की आलमारी मे, कुछ पत्तो के साथ रख दिया गया। दस बारह दिन के बाद जब आलमारी खोली गई तो उसमे से तीन तितलियाँ निकलीं और उड गईं, कीड़े का वहाँ चिह्न भी बाकी नहीं रहा। इस परीक्षण से अमैथुनि सृष्टि की कार्य-प्रणाली पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

साँचे का उदाहरण

जिस प्रकार खिलौने आदि बनानेवाला कारीगर पहले साँचा बनाता है और फिर उसी साँचे से अनेक खिलौने ढाल लिया करता है, ठीक इसी प्रकार अमैथुनि सृष्टि साँचा बनाने की कार्य-प्रणाली है और उसके बाद की मैथुनि सृष्टि साँचे से खिलौने आदि ढालने का कार्य-क्रम है।

अमैथुनि सृष्टि सब प्रकार की होती है

अमैथुनि सृष्टि मे केवल मनुष्य ही नहीं उत्पन्न होते; किन्तु पशु, पक्षी इत्यादि सभी उत्पन्न होते हैं। ये भिन्न-भिन्न योनियाँ क्यों उत्पन्न होती हैं? इस प्रश्न का उत्तर वैशेषिककार ने, उनके पिछली सृष्टि मे किये हुए कर्मों की भिन्नता दिया है।* महाप्रलय होने पर वैशेषिक-

* धर्म विशेषाच्च। (वैशेषिक ४।२।८)

कार के मत में किसी दिशा अथवा स्थान में, कोई प्राणी किसी योनि मे भी बाकी नहीं रहता।† इसलिये अमैथुनि सृष्टि का होना अनिवार्य है। फिर उसने एक जगह लिखा है कि प्राचीन आर्य्य प्रथानुसार, अमैथुनि सृष्टि मे उत्पन्न होनेवाले व्यक्तियों को, पिता के नाम से नहीं पुकारते, जैसे भरद्वाज का पुत्र भारद्वाज, बल्कि उत्पन्न होनेवाले व्यक्ति के मूल नाम ही लिये जाते हैं। जैसे अग्नि, वायु, आदित्य, अगिरा तथा ब्रह्मा आदि। इसलिये कि इनके कोई माता-पिता नही थे।‡ उसने अपने मत की पुष्टि में अमैथुनि सृष्टि के होने के वाद को आवश्यक बतलाते हुए+ उसके वेद से प्रमाणित होने का भी उल्लेख किया है।× वेद मे एक जगह अमैथुनि सृष्टि मे उत्पन्न मनुष्यो को सम्बोधित करते हुये कहा गया है:— "हे समस्त प्राणियों! तुम न शिशु हो न कुमार किन्तु महान् (युवा) हो।"÷

नैमित्तिक ज्ञान

जब अमैथुनि सृष्टि होने के कारण, ज्ञान देनेवाले माता-पिता आदि नहीं होते तो उस समय वह ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो? इस प्रश्न का उत्तर न मिलने के कारण, ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति (इलहाम) की कल्पना की जाती है। इसी कल्पना का संकेत योगदर्शन के इस प्रसिद्ध सूत्र मे "स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" (योगदर्शन २।३१) अर्थात् वह ईश्वर, जो समय से विभक्त नहीं हो सकता, पहले ऋषियों का भी गुरु है, किया गया है।

---

† अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्॥ (वैशेषिक ४।२।७१)

‡ समाख्याभावाच्च॥ तथा सज्ञाया आदित्वात्॥ (वैशेषिक ४।२।९,१०)

+ सन्त्ययोनिजाः॥ (वैशेषिक ४।२।११)

× वेदलिङ्गाच्च॥ (वैशेषिक ४।२।१२)

÷ न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकाः।
विश्वेसतो महान्त इत॥ (ऋग्वेद ८।३०।१)

ऋषियों के दो भेद

ऋषि दो प्रकार के होते है:—(१) देव्यऋषि (२) श्रुतऋषि—इनमे से देव्यऋषि वे है, जिनपर वेद का प्रकाश होता है, जैसे अग्नि, वायु, आदित्य और अगिरा। श्रुत-ऋषि वे है जो देव्य तथा अपने से पहले श्रुत-ऋषियों से शिक्षा पाकर ऋषि बनते है। इन्हीं दोनो प्रकार के ऋषियो को पूर्व और नूतन ऋषि भी कहा जाता है। यथा:—

अग्नि: पूर्वेभिऋर्षिभिरीड्यो नूतनैरुत। सदेवां एह वक्षति॥

ऋ० १।१।२

अर्थात् वह (अग्नि) ईश्वर, पूर्व (देव्य) और नूतन (श्रुत) दोनों प्रकार के ऋषियों से स्तुति करने के योग्य है। देव्य ऋषियों का प्रादुर्भाव जगत् के प्रारंभ ही मे एक बार हुआ करता है। वे बार-बार नहीं होते। परन्तु श्रुतऋषि, बराबर होते रहते है। इसीलिये वेद मे मनुष्यों को श्रुतऋषि होने योग्य ही पुत्र की प्रार्थना करने का विधान किया गया है—

सुब्रह्माणं देववन्तं बृहन्तमुरुं गभीरं पृथुबुध्नमिन्द्र!
श्रुतऋषिमुग्रमभिमातिषाहमस्मभ्य चित्र वृषण रयिं दा:॥

ऋ० १०।४७।३

अर्थात् हे इन्द्र! हमे, वेद का प्रेमी, परमात्मा का भक्त, उदार, विशाल-हृदय, गभीर, फैली हुई जडों (यश) वाला, तेजस्वी, (इन्द्रियरूपी) शत्रुओं का दबानेवाला, विचित्र शक्तिशाली "श्रुत ऋषि" पुत्र दे। योगसूत्र मे आये हुए "पूर्वेषाम्" शब्द का अभिप्राय देव्य ऋषियों से है। और इन देव्य ऋषियों का भी गुरु, ईश्वर को कहा गया है। अस्तु! जगत् के प्रारम्भ में ज्ञान (नैमित्तिक) ईश्वर की ओर से मिला करता है। यह सिद्धान्त जगत् के प्रारम्भ से डार्विन के जमाने तक; सर्वसम्मति से, बराबर माना चला आता रहा था। डार्विन ने इस सिद्धान्त के सर्वसम्मत होने मे, अपने विकासवाद के द्वारा आपत्ति उठाई जिसका विवरण इस प्रकार है।

विकासवाद

डार्विन ने शिक्षा दी कि मनुष्य, योनि-विकास के द्वारा, पशु से

मनुष्य बना है। उसने योनि-विकास का क्रम इस प्रकार बतलाया—(१) प्रथम अमीबा आदि एकघटक जन्तु हुए। (२) फिर आदिम-मत्स्य। (३) फिर फेफड़ेवाले मत्स्य। (४) फिर सरीसृप जल मेंढक आदि जलचारी जन्तु। (५) फिर स्तन्य जन्तु। (६) फिर अण्डज-स्तन्य। (७) फिर पिंडज = अजरायुज-स्तन्य। (८) फिर जरायुज स्तन्य। (९) फिर किम्पुरुष = बन्दर वनमानुष पतली नाक-वाले। वनमानुषों में पहले पूंछवाले कुक्कुटाकार, फिर बिना पूंछवाले नराकार, फिर इन्हीं नराकार वनमानुषों की किसी शाखा (लुप्त कड़ी) से जिसका अभीतक ज्ञान नहीं गूंगे मनुष्य, फिर अन्त में उन्हीसे बोलनेवाले मनुष्य उत्पन्न हुए।

डार्विन ने इस योनि-विकास के साथ ही मानसिक विकास (Mental evolution) की भी कल्पना करते हुए प्रकट किया है कि मनुष्य में बिना किसी निमित्त पुरुष के स्वतः क्रमशः ज्ञान की वृद्धि हो जाती है।

इस वाद पर आक्षेप

पहला आक्षेप

एक विकासवादी, शास्त्रज्ञ के मतानुसार प्राणी के उद्भिदों से लेकर मनुष्य योनि तक पहुँचने में ६७ लाख योनियाँ बीच की कूती (आँकी) जाती हैं। परन्तु इन ६७ लाख योनियों का विवरण देकर, उनमें योनि-विकास प्रमाणित करने की तो कथा ही क्या है, उनके नाम भी बतलाना असम्भव है। जर्मन के प्रसिद्ध प्राणि-शास्त्रज्ञ अर्नेस्ट हेकल ने एक जगह लिखा है कि "मछली से मनुष्य होने तक कम से कम ५३ लाख ७५ हजार योनियाँ बीती हैं। सम्भव है कि यह संख्या इस (५३ लाख) से १० गुनी हो।*" पुराणों में कुल योनियाँ ८४ लाख वर्णित हैं, जिनकी तफसील एक जगह इस प्रकार मिलती है:—

* 'Lost Link' by Ernest Haeckal with notes by Dr. H. Gada.

स्थावर योनियाँ	३० लाख
जलचर ,,	९ ,,
कृमि ,,	११ ,,
पक्षि ,,	१० ,,
पशु ,,	२० ,,
मनुष्य ,,	४ ,,
	योग ८४ लाख

स्थावर योनियों को छोडकर जलचर से मनुष्य तक ५४ लाख योनियाँ पुराणों के अनुसार हैं। परन्तु हैकल ने, सैकड़ों वर्षो के बाद उन्हें केवल ५३।।। लाख कूता है। फिर इन ५३।।। लाख योनियो के विवरण देने मे हैकल ने यह कहकर अपनी असमर्थता प्रकट की है कि "सम्भव है यह संख्या इससे १० गुनी हो।" थोड़े से मुट्ठी भर स्तन्य जन्तुओ का विवरण देकर जिसके भीतर भी, लुप्त कडी, अभी तक बाकी ही है, योनि-विकास को प्रमाणित समझना, साहस मात्र है।

दूसरा आक्षेप

अब तक सैकड़ो जन्तु योनि रूप में, अन्धे ही पैदा होते हैं। पता नहीं इनका विकास क्यों नहीं हुआ ? और पशुओं को छोड़कर अनेक द्वीपों मे अबतक मनुष्य-भक्षक मनुष्य पाये जाते है। इनके ज्ञान की क्रमशः वृद्धि न होने का समाधान क्या है ?

तीसरा आक्षेप

योनि-परिवर्तन वाद की पुष्टि मे एक युक्ति यह भी दी जाती है कि मनुष्य के गर्भ की अवस्था भी इस वाद की पुष्टि करती है।

(१) इस युक्ति का तात्पर्य यह है कि गर्भ के प्रारम्भिक मासों मे उस (गर्भ) का चित्र उन्हीं जन्तुओ से मिलता-जुलता होता है, जिनसे उन्नत होकर योनि-विकास द्वारा, मनुष्य बना हुआ, कहा जाता है। अन्त के मासों मे उसमे मनुष्यत्व के चिह्न प्रकट हुआ करते हैं। परन्तु यह कथन अब हाल की खोजों से ठीक सिद्ध नहीं होता।

"थियोसोफिकल पाथ" में डाक्टर वूड जौन्स के कथन का हवाला देते हुए, सी० जे० रियान (C. J Ryan) ने लिखा है:—"हैकल का यह वाद, कि मनुष्य का गर्भ वन्दरों के गर्भ से लगभग अन्त के मासों तक पहचाना नहीं जा सकता, अशुद्ध और त्याज्य है। कुछेक आवश्यक अङ्ग जैसे कि मनुष्य के पाँव एक मांसपेशी (Leg Muscle) के साथ, जो मनुष्य के नीचे के जन्तुओं में नहीं पाये जाते, मनुष्य के गर्भ मे यथासम्भव प्रारम्भ ही में प्रकट हो जाते हैं। यदि मनुष्य चार पॉववाले जन्तुओं आदि की योनियों से गुजर कर बना होता, तो वे अवयव अवश्य गर्भ के अन्त में प्रकट होते।" डाक्टर वूड जौन्स और रियान का भाव उनके ही शब्दों मे समझा जा सके, इसलिये इन दोनों सज्जनो के लेखों के उद्धरण फुटनोट में दे दिये गये हैं। वूड जोन्स ने अपने लेख में, जैसा कि उनके उद्धरण से मालूम होगा, इस बात का स्पष्ट रीति से वर्णन कर दिया है कि मनुष्य-योनि विकास द्वारा नहीं वनी है। किन्तु उसकी योनि इन सवसे भिन्न और स्वतन्त्र है❀। जब दस

❀ Dr. Wood Jones (The Problem of Man's Ancestry—P. 33)—"We are left with the unavoidable impression that the search of his ancestors must be pushed a very long way back ××× It becomes impossible to picture man, as being descenaed from any form at all like the recent monkeys ××× or from their fossil representatives ××× He must have started an independent line of his own long before the anthropoid apes and the monkeys devoloped those specializations which shaped their definite evolutionary destinies."

Refering to Wood Jone's above view Mr. C. J Ryan writes in the "Theosophical Path" He proves that Haeckal's teaching that a human embryo cannot be distinguished from that of monkeys until very late developments is wrong and must be abandoned, by showing that certain essentially human characters

मास में रज और वीर्य के मेल से मनुष्य बन जाता है तब उसे लाखो वर्षों मे बना हुआ बताना, ईश्वरीय शक्ति (Nature) का अपमान करना है। कुछेक और भी प्रमाण दिये जाते हैं:—

(२) बृटिश अद्भुतालय लन्दन के इनचार्ज डाक्टर इथिरज ने, अपने अनुभव के आधार से लिखा है कि इस महान् अद्भुतालय में किञ्चिन्मात्र योनि-परिवर्तन की पुष्टि का कोई साधन नहीं है। विकासवाद की स्थापना के लिए जो कुछ कहा जाता है उसका ९⁄१० भाग बकवास मात्र है। वह न तो जाँच पड़ताल से ठीक प्रतीत होता है और न घटनाओं से उसकी पुष्टि होती है।*

(३) प्रोफेसर ओविन ने लिखा है कि योनि-परिवर्तन का उदाहरण कभी किसी व्यक्ति के देखने मे नहीं आया।†

(४) प्रोफेसर थामसन ने लिखा है कि हम नहीं जानते कि मनुष्य कहाँ से निकल आया या कैसे उत्पन्न हो गया। यह बात खुले तौर से स्वीकार की जाती है कि मनुष्य की उत्पत्ति जिस प्रकार विकासवाद मे बतलाई जाती है, वह प्रकार सम्भावना की सीमा से सीमित है, परन्तु उसका कोई स्थिर स्थान विज्ञान की सीमा मे नहीं है।‡

---

such as the human walking foot with a leg-muscle found in none of the lower animals, are visible in the human embryo at the earliest possible time and not late in the formation as they would be if man had passed these anthropoidal and quadrupadal stages. (Vedic Magazine May 1926. P. 143)

* In all this Great Museum there is not a particle of evidence of transmutation of species. Nine tenth of the talk of evolution is sheer nonsense, not founded on observation and wholly unsupported by facts (Dr. Ethridge of the British Museum, London).

† No instance of the change of species into another, has ever been recorded by man. (Prof. Owin).

‡ We don't know whence he (man) emerged × × ×

(५) प्रो॰ डौसन ने लिखा है कि मनुष्य बनानेवाली कथित बीच की योनियाँ वैज्ञानिक जगत में अज्ञात् हैं। प्राचीनतम अवशिष्ट चिह्न जो मनुष्यों के पाये जाते हैं उनसे स्पष्ट है कि मनुष्य प्रारम्भ से इसी रूप में है। उनसे योनि विकास की पुष्टि नहीं होती है।¶

चौथा आक्षेप

यह (विकास) वाद प्रत्यक्ष के विरुद्ध है इसलिये अवैज्ञानिक है। संसार में एक सार्वत्रिक नियम देखा जाता है कि जो चीज उत्पन्न होती है, नष्ट हो जाती है। जो चीज बढ़ती है, अन्त में घटने लगती है। सूर्य की गरमी बढ़कर अब घट रही है। मनुष्य उत्पन्न होकर युवा होता है, फिर बूढ़ा होने लगता है और अन्त में मर जाता है। वृक्षों की भी यही अवस्था होती है। यह कहीं भी नहीं देखा जाता कि कोई चीज बढ़ती ही चली जाय और घटे नहीं। विकास के साथ ह्रास अनिवार्य है। परन्तु डार्विन का विकासवाद एक पहिये की गाड़ी है, ह्रासशून्य विकास है, इसलिये अस्वीकार्य है।

पाँचवाँ आक्षेप

क्रमशः ज्ञानवृद्धि का सिद्धान्त तो सर्वथा निराधार है और क्लिष्ट कल्पना मात्र है। इस सम्बन्ध में अनेक समयों में अनेक व्यक्तियों के द्वारा परीक्षण किये गये और सबका एक ही फल निकला। और वह

---

nor do we know how man arose ...for it must be admitted that the factors of evolution of man partake largely of the nature of "may be" whchhasi no permanan nt position in science.

(Prof. J. A. Thompson).

¶ No remains of intermediate forms are yet known to science. The earliest known remains of man are still human and tell us nothing as to the previous stages of developments.

(Prof. J. W. Dawson).

यह था कि क्रमशः ज्ञानवृद्धि का सिद्धान्त अप्रामाणिक है। परीक्षण करनेवाले व्यक्तियों के नाम ये है—

(१) असुरवानापाल-लेयार्ड (Layard) और रौलिन्सन (Rowlinson) दो अन्वेषकों ने, नेनवा और वैबलन (असीरिया) के पुराने खंडरों को खुदवाया और ईंटों पर लिखे हुए पुस्तकालय निकाले। उन पुस्तकों से वानापाल के परीक्षणों का हाल मालूम हुआ। पुराणों में इसी वानापाल को वानासुर लिखा है। जिसने इस देश पर आक्रमण किया और श्रीकृष्ण द्वारा पराजित हुआ था।

(२) यूनान का राजा सेमिटिकल।

(३) द्वितीय फ्रेडरिक (Fredric the Second)

(४) चतुर्थ जेम्स (James the 4th of Scotland)

(५) महान अकबर*

इन राजाओं के आधिपत्य में अनेक विद्वानों द्वारा १०-१०, १२-१२ छोटे-छोटे नवजात बालकों को शीशों के मकानों में रखा गया और उनकी परवरिश के लिये धाइयाँ रखी गयीं। उनको समझा दिया गया कि वे बच्चों को खिला-पिला कर प्रत्येक प्रकार से उनकी रक्षा करें। परन्तु उनको किसी प्रकार की कोई शिक्षा न दें, न उनके सामने कुछ बोलें। इन धाइयों ने ऐसा ही किया। इस प्रकार परवरिश पाकर जब बच्चे बड़े हुए तब जाँच करने से मालूम हुआ कि वे सभी बहरे और गूंगे थे।† यदि बिना शिक्षा दिये स्वयमेव किसी में ज्ञान न उत्पन्न हो सकता तो इन बच्चों को भी बोलना आदि स्वयमेव आ जाता। इनका बहरा और गूंगा रह जाना साफ तौर से प्रकट करता है कि स्वयमेव ज्ञान न उत्पन्न होता है न उसकी वृद्धि होती है।

---

* अकबर ने ३० बच्चों पर परीक्षण कराया था।

(देखो दबिस्तान मजाहिब—फारसी)

† Transactions of the Victoria Institute (Vol. 15. P. 330)

छठा आक्षेप

वैज्ञानिक भी अब क्रमशः ज्ञानवृद्धि के मन्तव्य का विरोध करने लगे हैं।

(१) सर आलिवर लाज, क्रमशः ज्ञानवृद्धि के सिद्धान्त का विरोध करते हुए, ऐसा माननेवालों से प्रश्न करते हैं कि सूक्ष्म कला (Fine Arts) फोटोग्राफी आदि का बिना शिक्षा प्राप्त किये किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ ? एक दूसरे विद्वान् बालफोर (Balfour) ने लाज के इस प्रश्न का समर्थन किया है।*

(२) डाक्टर वालेस ने, जो विकासवाद के आविष्कारकों मे से एक थे, अपने क्रमशः ज्ञान की वृद्धिवाले सिद्धान्त को छोड़कर एक जगह लिखा है कि जो विचार वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं, उनके लेखक उत्तम से उत्तम शिक्षकों और हमारे मिलटनों और टेनीसनों से न्यून नहीं थे। डाक्टर वालेस के शब्द ये हैं—

'We must admit that the mind which conceived and expressed appropriate language, such ideas, as are everywhere apparent in these Vedic hymns, could not have been in any way inferior to those of the best of our religious teachers and poets to our Milton's and our Tennysons." †

(३) डाक्टर वालेसने मिश्र और मेसोपटेमिया की पुरानी कलाओं और लेखों पर विचार करते हुए उनको भी आजकल की अच्छी से अच्छी कलाओं से कम नहीं ठहराया है। उन्होने इन और ऐसी ही अन्य बातों पर विचार करते हुए परिणाम यह निकाला है, कि क्रमशः ज्ञानवृद्धि का कोई प्रमाण नहीं है—

---

*Life and matter by Sir Oliver Lodge. P. 143.

† "Social Environment and Moral progress." by Dr Wallace, p 1[illegible].

There is therefore no proof continuously increasing intellectual power.*

(४) (क) गैलटन महोदय ने एक जगह लिखा है—

It follows from this that the average ability of the Athenian race is on the lowest possible estimate, very nearly two grades higher than our own; that is about as much as our own race is above that of the African Negro. (Heridity Genius. by Galton, P. 331.)

इसका सार यह है कि यूनानियो की मध्य योग्यता नीची से नीची मात्रा मे यदि कूती जावे, तो भी हमारी सभ्यता से दो दरजे ऊपर थी। अर्थात् लगभग उतनी ऊची थी जितनी हमारी जाति अफरीका के हवशियो से ऊची है।

यूनानियो को यह योग्यता कहॉ से आई ? इसका उत्तर देते हुए "आनफील्ड" ने लिखा है कि पाइथा गोरस, अनकसा गोरस, पिरहो आदि अनेक यूनानी विद्वान, शिक्षा पाने के लिये भारतवर्ष आये और लौटकर यूनान मे प्रसिद्ध वैज्ञानिक बने। †

(४) (ख) प्रोफेसर गोल्डस्मिथ की एक पुस्तक (The laws of life) की समालोचना करते हुए "के" (W. E. Key) महोदय ने "गुड-हेल्थ" (Good Health) मे लिखा है कि विकासवाद का अर्थ समझने से पहिले, यह बात अच्छी तरह से हृदयांकित कर लेनी चाहिये कि यह वाद न तो यह कहता है कि ईश्वर नहीं है और न इसकी शिक्षा यह है कि मनुष्य बन्दरो से उत्पन्न हुआ है। ‡ पेरी

---

* Social Environment and moral progress, by Dr. Wallace. P. 5-26.

† History of Philosophy vol. I. P. 65.

‡ Before considering the meaning of evolution it neither eliminates God, nor does it teach that mor-

ने अपने एक ग्रन्थ* मे और एडवर्ड कारपेंटर ने भी अपने एक दूसरे ग्रन्थ† में डॉक्टर वालेस और प्रो० "के" की सम्मतियों का समर्थन किया है—

(५) डारविन भी, जो विकासवाद का आविष्कारक था, अनीश्वरवादी नहीं था। उसने अपनी एक पुस्तक के पहले संस्करण में, जो योनियो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में है, लिखा था—

"I should infer from analogy that probably all the organic beings have descended from some one primordial form into which life was first breathed."

परन्तु उसी पुस्तक के दूसरे संस्करण मे उसने उपर्युक्त वाक्यों को संशोधन करके इस प्रकार लिखा है—

There is a grandeur in this view of life having been originally breathed by the Creator into a few forms or into one." ‡

संशोधित वाक्य मे, जीवन फूँकनेवाला ईश्वर को वर्णन करके, डार्विन ने साफ शब्दो मे प्रकट कर दिया है कि वह ईश्वर की सत्ता मानता था। [टिंडल ने अपने वेलफास्ट के भाषण मे डार्विन के पहले संस्करण मे प्रयुक्त किये हुए आदिम योनि (Primordial Form) शब्दो पर आक्षेप किया था कि उस (डार्विन) ने किस आधार पर यह कल्पना की है।] +

जो कुछ विकासवाद के सम्बन्ध में ऊपर लिखा गया, वह यह

---

keys are the ancestors of man. (Vedic Mag. Sept. 1923).

* The children of the sun, by Perry.

† The Art of Creation, by Edward Carpentor, P. 105.

‡ 'Origin of Species' by Charles Darwin.

+ 'Lectures and Essays' by Tyndall. P. 30.

प्रकट कर देने के लिये पर्याप्त है कि यह वाद अनेक त्रुटियों और कमियो से पूर्ण है और इस वाद के दो सिद्धान्त तो अत्यन्त आपत्ति-जनक है:—(१) एक योनि से दूसरी योनि की उत्पत्ति, (२) क्रमशः ज्ञान की वृद्धि (Mental evolution)। इसीलिये अधिकतर वैज्ञानिक भी अब इसके विरुद्ध हो गये और बराबर होते चले जाते है। डार्विन के विकासवाद ने ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति के सिद्धान्त में, जो बाधा पहुँचाने का यत्न किया था, वह यत्न निष्फल-सा सिद्ध हो रहा है। इसलिये उसके सम्बन्ध मे अब और अधिक न कहकर फिर मैं असली विषय (ईश्वरीय ज्ञान) की ओर आता हूँ:—

"ईश्वरीय ज्ञान के सम्बन्ध में तीन कल्पनाएँ"

जो ज्ञान ईश्वर द्वारा प्राप्त होता है, उसके सम्बन्ध मे तीन कल्पनाएँ की जाती हैः—

पहली कल्पना

ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता जगत् के प्रारम्भ में होती है। जब तत्कालीन मनुष्य-समाज मे शिक्षको का अभाव होता है, उस अभाव की पूर्ति ईश्वरीय ज्ञान द्वारा होती है। भारतवर्ष के ऋषि मुनियो का ऐसा ही विचार था और अब भी ऋषि दयानन्द ने इसी कल्पना की पुष्टि की है और आर्य-समाज इसी विचार का पोषक है।

दूसरी कल्पना

दूसरा विचार यह है कि समय-समय पर विशेष-विशेष पुरुषों के द्वारा विशेष-विशेष पुस्तको के रूप मे ईश्वरीय ज्ञान प्रादुर्भूत हुआ करता है। ईसाई, मुसलमान, यहूदी आदि सम्प्रदाय इस विचार के समर्थक हैं। इस कल्पना में यह आवश्यक है कि दूसरे इलहाम होने पर पहला रद्द समझा जावे, जैसा कि सीमिटिक लोगों का विचार है। परन्तु यह बात यहां याद रखनी चाहिये कि ईश्वर और उसके ज्ञान आदि सभी नित्य और अपरिवर्तनीय हैं। फिर ईश्वर प्रदत्त इलहाम का मन्सूख होना कैसा ?

प्लेटो ने ठीक ही कहा है कि "परमात्मा ज्ञान और कर्म दोनो में पूर्ण सरल और सत्य है। वह परिवर्तन नहीं करता, वह कभी किसी प्रकार से भी जागृत या स्वप्न मे आदेश या शब्द में धोखा नहीं देता।"

यह विचार उसने अपने ग्रन्थों में अनेक जगह प्रकट किये हैं।*

तीसरी कल्पना

तीसरा विचार यह है कि बिना किसी पुस्तक के माध्यम के समय-समय पर विशेष-विशेष पुरुषो को ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त होता रहता है। ब्रह्मसमाज और उनके अनुयायी तथा अन्य कुछेक पुरुष, इस कल्पना को ठीक मानते है। जब जगत् के प्रारम्भ मे मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त हो चुका, तब उसके बाद भी ऐसे ज्ञान प्राप्ति की कल्पना से ईश्वर की सर्वज्ञता मे धब्बा आता है। इलहाम होकर फिर उसका रद्द करना, अथवा उसमें संशोधन करना, अथवा उसके स्थान पर नया ज्ञान देने से, ईश्वर के ईश्वरत्व मे बाधा पहुँचती है। इसलिये दूसरी और तीसरी कल्पनाये अप्रतिष्ठित हैं। अस्तु, अब हम पहली कल्पना के सम्बन्ध में कुछेक आवश्यक बातों का उल्लेख करते हैं।
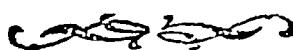
* God is perfectly Simple and true, both indeed and word, He changes not, he deceievs not, either by drean or waking vision, by sign or word.

(Phaedo by Polat)

दूसरा अध्याय

वेद और वेद से सम्बन्धित विषय

सृष्टि के साथ नियम-शास्त्र की आवश्यकता

जिस प्रकार भूगोल और भूमि का चित्र, भूमि के प्रत्येक भाग के समझने के लिये आवश्यक है। इसी प्रकार सृष्टि रूपी चित्र के साथ वेद रूपी भूगोल की आवश्यकता थी। हम यहाँ भूगोल शब्द को केवल नदी पहाड़ बतलाने वाले ग्रंथ के अर्थ में नहीं ले रहे हैं, अपितु हमारा अभिप्राय भूगोल से "सृष्टि-नियम-शास्त्र" है। जिसमें न केवल नदी पहाड़ का उल्लेख हो, बल्कि जगत् और जगत् निवासियों के जीवनों को ऊँचा बनानेवाले नियम भी हों। जिनसे न केवल जगत् की जानकारी हो, किन्तु जगत् को अच्छा और शान्तिप्रद बनाने की मर्यादाओं का भी ज्ञान हो। हम वेद को इसी प्रकार का ग्रन्थ मानते हैं और इसीलिये जगत् के प्रारम्भ ही में उसके होने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।

डाक्टर वालिस ने एक जगह लिखा है कि "जगत् के सुव्यवस्थित रखने के नियम और जगत का प्रत्येक कार्य्य किस प्रकार मर्यादा के अनुसार हुआ करता है, इन सब बातों का विचार वेद के ऋषियों ने किया था और समझा था कि उनका जगत् की उत्पत्ति से पहले होना आवश्यक है।* डाक्टर का अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त बातें वेद

---

* The principle of the order of the world, of the regularity of cosmic phenomenon, was conceived

के द्वारा प्रकट की गई हैं और इसलिये वेद का जगत् के प्रारम्भ में होना अनिवार्य्य था जैसा कि ऊपर कहा गया है।

एक और विद्वान ने किसी जगह लिखा है कि "ईश्वर के हाथ के लिखे हुए सच्चे ग्रन्थ दो हैं:—(१) प्राकृतिक नियम रूपी ग्रन्थ तथा (२) प्राकृतिक नियम जो (मनुष्य के) मस्तिष्क में प्रादुर्भूत किये गये। जगत् रचयिता के ज्ञान, बल और दया ब्रह्मांड के प्रत्येक वस्तु में स्वर्ण अक्षरों में अङ्कित हैं।"* हम यहाँ दो और सम्मतियों का प्रकट कर देना आवश्यक समझते हैं। उनमें से एक फिलिन्ट की है। फिलिन्ट ने एक जगह लिखा है कि प्राकृतिक नियमों, जगत् रचना तथा ईश्वर की संरक्षता का प्रकाश, ईश्वर के ज्ञान और उसकी इच्छा को प्रकट करने के लिये, जिनका प्रकट होना मुक्ति के लिये आवश्यक है, काफी नहीं है। गहरी से गहरी खोज और अप्राप्त सहाय बुद्धि की ऊँची से ऊँची सफलता के लिये आवश्यक है कि उनमे उन सचाइयों का समावेश किया जावे जो ईश्वर प्रदत्त ज्ञान से प्राप्त हुआ करती है।† दूसरी सम्मति जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिक कांट की है। कांट ने एक जगह लिखा है:—यह बात भलीभाँति स्वीकार की

---

by the *Rishis* to have existed as a principle before the manifestation of any phenomenon.

(Cosmology of the Rigveda by. H. W. Walles.)

* The true scripture written by the hand of God are two—the volume of Nature and the natural ideas implanted in the mind. The wisdom, power and mercy of the Creator are written in golden letters on the universe.

(Leader Dated 10-4-1906. P. 5)

† The light of Nature and the works of creation and Providence are not difficult to give that knowledge of God and of His will which is necessary unto salvation. The deepest discoveries and the highest achievements of the unaided intellect had to

जा सकती है कि यदि ईश्वर प्रदत्त ज्ञान पहले से न प्राप्त होता तो जगत् के आचारिक नियम पवित्रता मे और तर्क आन्तरिक ज्ञान में, इतनी पूर्णता न प्राप्त करते"*। इन और ऐसे ही अन्य हेतुओं से, इस देश में जगत् के प्रारम्भ से अब तक वेद को अपौरुषेय मानते चले आये है।

स्वयं वेद भी इस मतव्य की साक्षी देते है—

तस्मात् यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत† ॥ १ ॥

अर्थात् उस सर्वहुत यज्ञ से (जिसका पहिले वर्णन हुआ है) ऋग्वेद, सामवेद, उत्पन्न हुए (छन्दांसि) अथर्ववेद उत्पन्न हुए, उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

(अथर्व० १०।७।२०)

अर्थात् ऋचायें (ऋग्वेद) जिससे निकली है, यजु (यजुर्वेद) जिससे उत्पन्न हुए है, साम (सामवेद) जिससे लोम (रोमो की सदृश), अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद) जिसका मुख है, बताओ कि वह स्कम्भ (ईश्वर) कौन है।

स वा ऋग्भ्योऽजायत तस्माद् ऋचोऽजायत ॥ ३ ॥

(अथर्व० १३।४।३८)

अर्थात् वह (ईश्वर) ऋचाओं (वेदों) से प्रकट हुआ। उस (ईश्वर) से ऋचायें (वेद) प्रकट हुई।

---

be supplemented by truths which can only come to us through special revelation.

(Theism by R. Flint P. 302 and 310)

* We may well concede, that if the Gospel had not previously taught the universal moral laws in their full purity, reason would not yet have attained so perfect an insight of them. (Kant.)

† ऋग्वेद १०।९०।८ तथा यजुर्वेद ३१।७ तथा अथर्ववेद १९।६।१३

ऋग्वेद १०।९०।९ और अथर्ववेद १०।७।२० तथा अन्य अनेक स्थलों पर भी वेदों के ईश्वर से प्रकट हुआ होने का उल्लेख है।

(Phillip) फिलिप ने अपने ग्रन्थ Teachings of the Vedas में (देखो पृष्ट २३१) लिखा है कि "वेदानुयायी आर्यों के उच्च विचारों का केन्द्र प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान था।"

(क) डाक्टर फिलीमिग ने भी ईश्वरीय ज्ञान प्राप्ति के सिद्धान्त का समर्थन किया है—

"If we are to obtain more solid assurances it cannot come to the mind of man groping feebly in the dim light of unassisted reason but only by a communication made directly from this Supreme Mind to the finite mind of man." (Science and Religion—by seven Men of Science, Lecture by Dr Fleeming)

(ख) स्वयं हैकल जैसे जड़वादी ने भी इलहाम की सम्भावना स्वीकार की है। उसने लिखा है कि यदि ईश्वर की सत्ता स्वीकार कर ली जावे तो उस ईश्वर के द्वारा ज्ञान प्राप्त होने मे कोई वैज्ञानिक बाधा नहीं हो सकती, उसके शब्द ये हैं।

"They may or may not receive such information but there is no scientific ground for dogmatism on the subject nor any reason for asserting the inconceivability of such a thing (T O. Mazina, quoted in the Materialism by Doiab Dinah Ranga, P. 52).

(ग) अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् टामस पेन, जिसने बाईबल के इलहामी होने का प्रबल खंडन किया है और जिसने बाईबल के अनेक लेखकों के लिए प्रमाणित किया है कि वे जोड़ और बाकी तक नहीं जानते थे, इलहाम के सम्बन्ध मे उसने जो युक्ति दी है वह वेदों पर पूर्ण रीति से चरितार्थ होती है। उसकी सम्मति इस प्रकार है।

"Revelation is a communication of some-thing

which the person to whom the thing is revealed, did not know before. For if I have done a thing, or seen it done, it needs no revelation to tell me, I have done it or seen it nor enable me to tell it or to write it. Revelation therefore cannot be applied to anything done upon earth of which man is himself actor or the witness and consequently all the historical part of the Bible which is almost the whole of it is not within the meaning and compass of the word revelation and therefore is not the word of God. (Age of Reason, P. 10-11)

स्पष्ट है कि वेद में इतिहास न होने से, वेद ही इलहाम के अर्थों में, सार्थक होते है।

वेद का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ ?

ऋग्वेद मे वेद के प्रादुर्भूत होने के सम्बन्ध मे एक जगह इस प्रकार वर्णन है—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

(ऋ० १०।७१।१)

अर्थात् 'ईश्वर (वेद) वाणी का स्वामी है। वह वाणी ऋषियों के* हृदयों मे उत्पन्न होती है। उसी वाणी को ऋषि अपने हृदय से निकाल कर उसके द्वारा वस्तुओं के नामादि उच्चारण करते है।"

इस मन्त्र से स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञान प्राप्त होने की प्रणाली यह है कि ज्ञान वाणी के साथ ऋषियों के हृदयों मे प्रकट होता है और वे ज्ञान के ग्राहक ऋषि उसे संसार मे प्रचलित किया करते हैं। हम इन

* ऋषियों से अभिप्राय उन्हीं दिव्य ऋषियों से है, जिनका पहले वर्णन हो चुका है और जिनसे शिक्षा पाकर श्रुत ऋषि बना करते है।

कार्यप्रणाली को अन्तःकरण की प्रेरणावत् समझ सकते हैं। मनुष्य जब कोई अच्छा काम करना चाहता है तो उसके संकल्प मात्र से उसके हृदय मे उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती है। और जब कभी कोई बुरा काम करना चाहता है, तो उसके सङ्कल्प मात्र से भय, शङ्का और लज्जा उत्पन्न होती है।

दोनो सूरतों मे मनुष्य के भीतर जो उत्साह और अनुत्साह उत्पन्न होता है, इसे कोई जुबान से नहीं कहता, न वह (ग्राहक) मनुष्य उसे कानों से सुनता है। यह भाव हृदय ही में उत्पन्न होता है और हृदय ही के माध्यम से मनुष्य उसे सुन और समझ लिया करता है। इसी अन्तःकरण की प्रेरणा (Conscience) की भाँति ईश्वरीय ज्ञान भी ग्राहक ऋषियों के हृदय मे उत्पन्न होता है और ऋषि उसे हृदय ही से समझ लिया करते हैं।*

इपीक्यूरस इसका समर्थक है

ग्रीक दार्शनिक इपीक्यूरस (Epicurus) ने उपर्युक्त भाँति ज्ञानप्राप्ति का समर्थन किया है। उसने एक जगह लिखा है—

"सबसे प्रथम भाषा के प्रकट करने में, ईश्वरीय प्रेरणा से मनुष्य ने अबोधता के साथ (सोते मे बोलने बड़बड़ाने के सदृश) काम किया, जिस प्रकार से वह, (बिना इरादे के) खाँसा, छींका या आह भरा करता है, इत्यादि।

(Materialism by D. D. Thanga, P. 52)

---

* ऋषि दयानन्द, अन्तःकरण की प्रेरणा (Conscience) को ईश्वर-प्रेरणा मानते थे। पाइथागोरस भी ऐसा ही मानता था:—

"But there is a voice of conscience within us the utterance of a divine law independent of human statutes and traditions, self-evident, irrefragable" (Science of Language, by Max Muller, Vol. II, p. 396).

उपनिषदों का समर्थन

बृहदारण्य के उपनिषद् मे लिखा है—

"अस्य" महतोर्भूतस्य निःश्वसितमेतद् । ऋग्वेद ।

अर्थात् उस महाभूत (ईश्वर) के श्वास से, यह जो ऋग्वेद है, प्रकट हुआ।

माधवाचार्य का समर्थन

ईश्वर की वन्दना माधवाचार्य जी इस प्रकार करते है:—

यस्य निश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।
निर्ममे तमहं वंदे विद्यातीर्थं महेश्वरम ॥

सर्व विद्यानिधान परमेश्वर को मै नमस्कार करता हूँ, जिसके श्वास से वेद निकले और जिसने वेदो से समस्त जगत् की रचना की है।

शंकराचार्य का समर्थन

वेदान्त दर्शन के सूत्र "अतएव च नित्यत्वम् ।" का भाष्य करते हुए शंकराचार्य जी ने लिखा है:—

"ततश्चातीतकल्पानुष्ठितप्रकृष्टज्ञानकर्मणामीश्वराणां हिरण्यगर्भादीनां वर्त्तमान 'कल्पादौ' प्रादुर्भवतां परमेश्वरानुगृहीतानां सुप्त प्रबुद्धवत् कल्पान्तरव्यवहारानुसन्धानोपपत्तिः ।"

अर्थात् जगत् के प्रारम्भ मे वेद का प्रादुर्भूत होना शंकर का भी मन्तव्य था। जिस सूत्र के भाष्य मे शंकर ने अपना उपर्युक्त मत प्रकट किया है, उस सूत्र मे वेद को नित्य प्रतिपादन किया गया है। वेद ईश्वर का ज्ञान होने से, आवश्यक है कि नित्य हो; परंतु यहा यह समझ लेना जरूरी है कि वेद यद्यपि ईश्वर का ज्ञान है: परन्तु उसके ज्ञान का केवल इतना अंश है, जितना मनुष्य के अभ्युदय और निश्रेयस दोनो की सिद्धि के लिये आवश्यक है। अन्यथा उसका ज्ञान तो असीम है।

वेद का ज्ञान भाषा के साथ था

ज्ञान प्राप्ति का प्रकार समझ लेने के बाद, यह जान लेना भी आवश्यक है कि यह प्राप्त ज्ञान भाषा के साथ था। विना भाषा के कोई बात भी समझी नहीं जा सकती। ध्यानपूर्वक विचार करने से यह बात साफ तौर से मालूम होने लगती है कि कोई भी नैमित्तिक ज्ञान विना शब्दों के अपनी सत्ता प्रकट नहीं कर सकता। इसीलिये इस देश के विचारकों में से महामुनि पतंजलि, जैमिनि आदि विद्वानों ने शब्द को नित्य माना है। प्लेटो ने भी इसका समर्थन किया है। मैक्समूलर ने पाईथागोरस, प्लेटो आदि का हवाला देते हुए भाषा और ज्ञान की अपृथकता (Inseparability) सिद्ध की है और इस अपृथकता के सिद्धान्त को भाषा विज्ञान की बुनियाद बतलाई है।* फिर वह कहता है कि जब यह स्वीकार किया जाता है कि विचार (Concept) के विना शब्द, शब्द नहीं कहा जा सकता तो फिर इसकी स्वीकृति में क्यों हिचकिचाहट होनी चाहिये कि विचार भी शब्द के विना असम्भव है। इसकी सम्मति में विचार और भाषा एक सिक्के की दो तरफें हैं। इन दोनों से मिल कर ही सिक्का, सिक्का कहा जाता है। इसी प्रकार शब्द से अर्थ और अर्थ से शब्द पृथक् नहीं किया जा सकता।† अर्थात ज्ञान विना भाषा के और भाषा विना ज्ञान के असम्भव है। शीलिंग ने भी इसका समर्थन किया है।‡ हीगल

---

* The fundamental tenet of the science of language. (Science of thought by Max Muller).

† I therefore declare my conviction as explicitly as possible that thought in the sense of reasoning is not possible without language.

(Science of language by Max Muller. P.99.)

‡ Without language, says Scholling, it is impossible to conceive philosophical, nay, even any human consciousness. (Do. page. 98.)

कहता है कि हम शब्दों द्वारा ही विचार करते हैं।* अस्तु, यहाँ हम पाठकों का ध्यान अथर्ववेद के इस प्रसिद्ध वाक्य की ओर दिलाते हैं, "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।"† इस मंत्रांश में वेद को काव्य कहा गया है। काव्य और कवि "कुशब्दे" धातु से बनते है। जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य, शब्दमय ज्ञान का नाम है। अर्थात् वेद ईश्वर प्रदत्त शब्दमय ज्ञान है। उपर्युक्त पंक्तियों से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि यह कल्पना—कि ईश्वर ने केवल ज्ञान दिया और ऋपियों ने अपने शब्दो मे उसे प्रकट कर दिया—सर्वथा निराधार है। असल मे उस समय कोई भापा थी ही नहीं। दुनिया मे प्राचीनतम भापा वैदिक अर्थात वेदो की भापा है।

वैदिक भाषा से पहले कोई भाषा नहीं थी

इस वात का कोई भी चिह्न इस पृथ्वी पर नहीं मिलता कि वैदिक भापा से पहले कोई और भापा यहाँ प्रचलित थी। मैक्समूलर ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ भापाविज्ञान (Science of language) मे, इस वात को स्वीकार करते हुये भी, वैदिक भापा को समस्त प्रचलित भापाओ की माता नहीं अपितु बड़ी वहन कहा है। यद्यपि वह माता का पता नहीं दे सकता। कुछेक भापा शास्त्रज्ञ (Philologist) वैदिक भापा से पहले किसी भापा के होने के सम्बन्ध में इस प्रकार तुकबन्दी करते है—वे कहते है कि जिस प्रकार "विंशाति" शब्द प्रयोगाधिक्य से "वीस" वन गया, इसी प्रकार विशाति शब्द "द्विद-शति" का प्रयोगाधिक्य से वना हुआ रूप है। अर्थात वैदिक से पहले किसी कल्पित भापा मे वीस के लिये 'द्विदशति' शब्द था अर्थात दस का दूना। परन्तु ऐसी कल्पना करने वालों को सोचना चाहिये था कि द्विदशति शब्द तो वैदिक भापा का ही शब्द है, फिर उसको किसी अन्य भापा का शब्द वतलाना सर्वथा अनुचित है। निष्कर्ष यह है

* We think in names. (Hegel.)

† अथर्ववेद (१०।८।३२)

कि इस पृथ्वी की प्राचीनतम भाषा वैदिक भाषा है, इससे पहले किसी अन्य भाषा के होने का न तो चिन्ह मिलता है, न होने की सम्भावना हो सकती है।

भाषा की उत्पत्ति

भाषा को ईश्वर प्रदत्त न मानने वालों का कहना है कि भाषा प्राणियों के व्यवहार से स्वयमेव उत्पन्न हो गई। भाषा की इस प्रकार से उत्पत्ति के एक वाद का समर्थक अथवा आविष्कारक "लाक" था। ऐडम स्मिथ (Adam Smith) ने इसका समर्थन किया है। इस वाद को (Theory of convention) कहते हैं। वाद का विवरण इस प्रकार है:—प्रारम्भ में मनुष्य गूँगे थे। विचार परिवर्तन शरीर के अवयवों के संकेत से किया करते थे। कभी मुँह बनाकर, कभी उँगलियों के संकेत से। पीछे कुछ चिन्ह निश्चित करके उनके अर्थ परस्पर की सलाह से कल्पना कर लिये। इस प्रकार भाषा बन गई। परन्तु इस वाद पर आक्षेप यह है कि जब शब्द और अर्थ अनिश्चित थे तो सलाह कैसे की गई, किस भाषा में की गई? जब कोई भाषा थी ही नहीं तो सलाह करने का विचार असम्भव है। जब वे प्रारंभिक प्राणी गूँगे थे तो स्पष्ट है कि वे कोई भाषा तो बोल ही नहीं सकते थे, फिर भाषा कैसे बन गई? इत्यादि।

(२) एक दूसरा वाद है जिसे (Onomatopoetic Theory) कहते हैं। यह वाद इस प्रकार है। सबसे प्रथम मनुष्य ने जब बोलना शुरू किया तो अपने समीपवर्ती जीवित प्राणियों के आवाज की नकल की और जिनके आवाज की नकल करके बोलना शुरू किया था, पीछे वे शब्द उन्हीं जन्तुओं के नाम हो गये और नकल की हुई आवाज से अपने लिये शब्द बनाये और इसीमें वे बोलने लगे और इस प्रकार भाषा बन गई। पशु-पक्षियों की आवाज को, मनुष्य ध्वनि (निरर्थक आवाज) तो कह सकता है, परन्तु सार्थक शब्द नहीं कह सकता। इसलिये इस वाद से भी भाषा नहीं बन सकती। इसके सिवा दुनिया

में ऐसी कोई भाषा न तो प्रचलित है और न उसका रिकार्ड है जो पशु-पक्षियों की बोलियो से बनी हो।

(३) तीसरा वाद (Introjectional Theory) कहा जाता है। मानसिक भावों के भावो को प्रकट करने के आवेश में, मुंह से अचानक शब्दों का निकल जाना। जैसे आह, आह, वाह वाह, उहो हो। इत्यादि।

(४) चौथा वाद—Bow-vou Theory कहा जाता है। यह वाद तीसरे वाद ही के सदृश है।

ये और इस प्रकार के कुछेक और छोटे-मोटे वाद हैं जो भाषा की उत्पत्ति के लिये गढ़े गये है, परन्तु इनका मूल्य तुकबन्दियों से अधिक कुछ नही। इन तुकबन्दियों से भाषा की उत्पत्ति जैसे जटिल प्रश्न के हल करने का यत्न मृगतृष्णा से प्यास बुझाने के सदृश है। इस प्रकार के प्रयत्नों को निस्सार समझते हुए, स्वीकार करने के लिये वाधित होना पड़ता है कि ज्ञान के सदृश भाषा भी दैवी महिमा है और ईश्वर की ही देन है। यह वात ऋग्वेद के भी एक मत्र मे स्पष्ट होती है:—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्ता मन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रातां सप्त रेभा अभि संनवन्ते॥
(ऋ० १०।७१।३)

(यज्ञेन) यज्ञ पुरुष = परमात्मा से (वाचः, पदवीयम्) वाणी सम्बन्धी मार्ग = वाणी के प्राप्तव्य ज्ञान को (आयन्) पाते है। (ऋषिषु) वेद प्रापक ऋषियों में (प्रविष्टा, ताम्) प्रविष्ट उस (वेदवाणी) को (अन्वविन्दन) लाभ करते है अर्थात् उन ऋषियो से अन्य पुरुष वह भाषा प्राप्त करते है। (ताम्) उस (भाषा) को (आभृत्य) लाकर = पाकर (वे पुरुष) पुरुत्रा = बहुतो में (उसे) व्यदधुः = फैलाते है। (ताम) उस भाषा को (रेभा) शब्दायमान (गायत्री आदि) सप्त = सात छंदो में (अभि संनवन्ते) प्राप्त करते है।

भाव स्पष्ट है कि वेद सम्पन्न आदि भाषा, वेद के ज्ञान के साथ, ईश्वर ने प्रदान

करते हैं। उनसे अन्य लोग उस भाषा को प्राप्त करके, देश देशान्तर और द्वीप द्वीपान्तर में, उसका प्रचार करते हैं।

संस्कृत भाषा

वेद वैदिक भाषा में है। वेद का ज्ञान प्राप्त करके आर्य जाति समस्त जगत् में फैली। और जहाँ वे गये, वहीं देश और नगर आबाद करके बस गये। वैदिक भाषा के प्रादुर्भूत स्थान से दूर हो जाने और चिरकाल तक पृथक् रहने के कारण, जैसे भाषाओं में भेद हो जाया करता है, इसी प्रकार भाषा भेद होकर पहलवी, रोमन (लैटिन), यूनानी, जरमन, अंगरेजी, फ्रेंच आदि अनेक भाषायें, उसी एक वैदिक भाषा से, बन गई। संस्कृत भी उसी वैदिक भाषा की, अन्य पारसी आदि भाषाओं की तरह पुत्री है। संस्कृत का प्रचलित रूप वैयाकरणों का दिया हुआ है इसीलिये इसे संस्कार की (शोधी) हुई भाषा संस्कृत कहते हैं।

व्याकरण के तीन प्रसिद्ध ग्रंथ

वैयाकरण अनेक हुये हैं। यह आवश्यक था कि उन्होंने अपनी अपनी पृथक्-पृथक् रचनायें भी की होंगी। परन्तु इस समय तीन ही प्राचीन ग्रन्थ मिलते हैं १—शाकटायन का शब्दानुशासन, २—पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा ३—पातंजलि का महाभाष्य। इन ग्रन्थों में, इनसे पहले हुये अनेक वैयाकरणों जैसे इन्द्र, सिद्धनन्दी, आर्यवज्र, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मन, शाकल्य, भारद्वाज आदिकों का उल्लेख है। वैदिक भाषा के प्रयोगों में, इन वैयाकरणों ने अनेक परिवर्तन किये और वे ही परिवर्तन अब तक बराबर प्रयोग में आ रहे हैं। इन सुधारों का फल यह हुआ कि संस्कृत संसार की अन्य समस्त भाषाओं के मुकटमणि के रूप में विराजमान है।

पश्चिमी विद्वान और संस्कृत भाषा

अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ संस्कृत-साहित्य में मैक्समूलर ने लिखा है

कि "यह प्रसिद्ध है कि शब्दों के (संज्ञा, सर्वनामादि) विभागो के नाम रखने मे 'यूनान के विद्वानों' को कितना समय व्यय करना पड़ा। प्लेटो को केवल नाम और आख्यान का ज्ञान था, अरस्तू को Conjunction और Article की भी जानकारी थी। जैनोडोटस सर्वनामादि (Pronoun) का भी ज्ञान रखता था और अरिस्टार्कस (१५० B. C.) ने उपसर्ग को भी जाना था। परन्तु कैसी विलक्षण वात है कि (वेद के व्याकरण) प्रातिशाख्यो मे ये सब इकट्ठे हमे मिलते है। * मैक्समूलर ने यह भी स्वीकार किया है कि पाणिनि को इन प्रातिशाख्यों का ज्ञान था और इनसे उसने खूब लाभ उठाया है।†

इसी प्रकार एडेलिग ने पूर्वी और पश्चिमी १०० भाषाओ की जननी संस्कृत को वतलाया है और यूनानी, लैटिन और जरमन भाषा परिवारो की तो उसे निकटवर्ती जन्मदात्री (Immediate parent) कहा गया है।‡

पश्चिमी विद्वान इसे भी स्वीकार करते हैं कि एक समय संस्कृत समस्त संसार की भाषा थी।+

इस प्रकार पश्चिमी साहित्य मे संस्कृत भाषा की पूर्णता और सबसे अधिक नियमित होने का जगह-जगह उल्लेख मिलता है। अब हम वेद के नित्यत्व पर विचार करते हैं।

---

* The Sanskrit Literature by Maxmuler P. 82.

† That Panini knew the Pratishakhyas had been indicated long ago by Prof. Bohtlingtb; and it can be proved now by a comparison of Panini Sutras with those of Pratishakhyas that Panini largely availed himself of the works of his predecessors (Do p. 77)

‡ The Sanskrit Literatuare by Adeling P. 38-40

+ At one time sanskrit was the one language spoken all over the world.

(Edenburgh Review, Vol. II and III P. 13,)

वेद का नित्यत्व

ऋग्वेद में एक जगह एक मन्त्र इस प्रकार आया है—

तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूप नित्यया।
वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्॥ (ऋग्वेद ८।७५।६)

इसमें वेद को ईश्वरीय वाक्य और नित्य कहा है। इसीकी पुष्टि वेदान्तदर्शन में "अतएव च नित्यत्वम्" (वेदान्त० १।३।२९) सूत्र द्वारा की गई है। महाभारत में एक जगह इसी प्रकार की बात कही गई है—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥
(म० भारत १२।२३३।२४)

अर्थात् सृष्टि के आदि में स्वयम्भु परमात्मा से ऐसी वाणी—वेद निकले जिनका न आदि है, न अन्त, जो नित्य नाशरहित और दिव्य हैं। उन्हींसे जगत् में सब प्रवृत्तियों का प्रकाश हुआ है।

फिर एक जगह कहा गया है—

स्वयम्भुर्देव भगवन् वेदो गीतस्त्वया पुरा।
शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्तारोऽस्य न कारकाः॥

अर्थात् हे स्वयम्भु भगवन्! पुरातन काल में वेद आप ही के द्वारा गाया गया था। शिव से लेकर ऋषियों तक उस (वेद) के स्मरण करनेवाले ही हैं, कर्ता नहीं।

कुल्लूक भट्ट ने भी इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है। उनके वाक्य ये हैं—

"प्रलयकालेऽपि सूक्ष्मरूपेण परमात्मनि वेदराशिः स्थितः"

अर्थात् प्रलयकाल में भी वेद सूक्ष्म रूप से ईश्वर में स्थित रहते हैं।

"मेधातिथि" ने भी लिखा है—

"नैव वेदाः प्रलीयन्ते महाप्रलयेऽपि॥"

अर्थात् महाप्रलय में भी वेद उपस्थित रहते हैं।

गीता में भी इसीका समर्थन किया गया है—

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥

(भ० गीता ३।१५)

अर्थात् कर्म की उत्पत्ति ब्रह्म=वेद से हुई और वेद ईश्वर से उत्पन्न हुये हैं।

सांख्यदर्शन और वेद

कपिलमुनि ने कई सूत्रों मे वेद का विचार किया है। उन्होंने इस सूत्र मे उनका अनित्यत्व प्रकट किया है:—

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्व श्रुतेः ॥ (५।४५)

अर्थात् वेदों का कार्यत्व सुनने से वे नित्य नहीं।

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत. ऋचः सामानि जज्ञिरे ॥ (यजु० ३१।९)

इस वेद मंत्र मे वेद को ईश्वर से उत्पन्न हुआ कहा गया है। इसलिये उत्पन्न पदार्थ नित्य नहीं हो सकते। अतः वेद भी नित्य नहीं। हम पहले सांख्य का पूरा मत प्रकट करके तव इस सम्वन्ध मे कुछ कहेंगे। वेद के अनित्यत्व के प्रतिपादन से स्वाभाविक रीति से यह प्रश्न होता है कि फिर वे पौरुषेय=पुरुष कृत भी होंगे। इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने निषेध परक इस प्रकार दिया है:—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्त्तुः पुरुषस्याऽभावात् ॥ (५।४६)

अर्थात् उन (वेदों) के कर्ता पुरुष के न होने से वे पौरुषेय=पुरुष कृत नहीं।

यदि यह कल्पना की जावे कि वेदों के बनाने वालो को लोग भूल गये होंगे इसलिये वे पुरुष कृत ही हैं तो इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है।

मुक्ताऽमुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥ (५।४७)

अर्थात् मुक्त और अमुक्त=बद्ध में (वेदों की रचना करने की) योग्यता न होने से (वेद पौरुषेय नहीं)।

इस सूत्र मे कपिलाचार्य्य ने मुक्त और बद्ध अर्थात् समस्त मनुष्यों को वेद की रचना कर सकने के अयोग्य ठहरा कर उन्हें अपौरुषेय

प्रमाणित किया है। कुछेक अन्य सूत्रों के बाद, इस प्रश्न के उत्तर में, कि क्या वेदों के प्रामाण्य में प्रमाणान्तर अपेक्षित है। सांख्यकार ने यह उत्तर दिया है:—

निज शक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥ ५।५१ ॥

अर्थात् अपनी निज (स्वाभाविक) शक्ति द्वारा प्रकट होने से (वेदों की) स्वतः प्रमाणता है।

सांख्य के उपर्युक्त सूत्रों से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है कि वह वेदों का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार करता हुआ उन्हें मनुष्यों की रचना नहीं मानता। परन्तु उन्हें वह अनित्य इसलिये कहता है कि वे (वेद) उत्पन्न हुये कहे जाते हैं और उत्पन्न हुई वस्तु नित्य नहीं होती। जिस प्रकार उत्पन्न हुई सृष्टि, सृष्टि रूप मे, नित्य नहीं हो सकती परन्तु उसका कारण (प्रकृति) तो नित्य है ही और सृष्टि भी, यदि नित्य नहीं तो प्रवाह से नित्य जरूर है; क्योंकि सांख्य, असल मे, प्रकृति ही के विस्तार, कारणत्व और नित्यत्व के प्रकट करने के लिये रचा गया है। वेद की उत्पत्ति उस प्रकार नहीं होती जैसे प्राकृतिक कारण विकृत होकर कार्य्यरूप में प्रकट हुआ करता है। वेद के उत्पन्न होने के अर्थ केवल यह हैं कि ईश्वरीय प्रेरणा से, उसका दिव्य ज्ञान, दिव्य ऋषियों के हृदयों मे, प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ मे, प्रकट हो जाया करता है और वे ऋषि उसका जनता मे प्रसार कर दिया करते हैं। उत्पन्न होने का अर्थ अभाव से भाव होना अथवा कारण का विकृत होकर कार्य्यरूप में परिवर्तित होना नहीं है। इसलिये सूत्र ४५ में वर्णित वेदों के कार्यत्व के सुने जाने की बात कहे जाने से, वेद अनित्य नहीं हो सकते। यह बात निम्नांकित हेतुओं से और भी पुष्ट हो जाती है.—

(१) वेद प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में, अनादि काल से, "यथापूर्वमकल्पयत्" के नियमानुकूल, उपर्युक्त भाँति, प्रकट होते हैं और सृष्टि प्रवाह से नित्य है इसलिये आवश्यक है कि वेदों को नित्य माना जावे।

(२) वेद ईश्वर का ज्ञान है। ईश्वर नित्य है और उसका ज्ञान, क्रिया और बल सभी स्वाभाविक हैं, इसलिये वेद का नित्यत्व स्वीकार करना अनिवार्य्य है।

(३) ईश्वर और प्रकृति की भाँति जीव भी नित्य है इसलिये उसके कल्याणार्थ दिये हुये ज्ञान (वेद) का भी नित्य होना लाजिमी है।

अस्तु, सांख्यकार का अभिप्राय वेदों के अनित्यत्व से, पुस्तक रूप मे वेद के अनित्य होने से, है; क्योंकि इस (पुस्तक) रूप मे वेद का नित्य कोई भी नहीं मानता, न कि पुस्तक के भीतर जो शब्दमय ज्ञान है उसको अनित्य बतलाने से। क्योंकि उनका तो प्रामाण्य और अपौरुपेयत्व, सांख्यकार को स्वीकार ही है।

यदि वेद नित्य हैं तो फिर उनमें ऋषियों के नाम क्यों हैं ?

अनेक देशी और विदेशी विद्वानों को, वेद मे आये हुये जमदग्नि और वशिष्ट आदि शब्दों को देखकर, सन्देह हो जाता है कि वेद में जब अनेक ऋपियो के नाम हैं तो वे नित्य कैसे हो सकते हैं ? उन्हें तो उन ऋपियों के पीछे का बना हुआ होना चाहिये।* इसका समाधान महर्षि जैमिनि ने निम्न सूत्रों द्वारा किया है।

(१) आख्या प्रवचनात् (पूर्वमीमांसा ॥ १।१।३०)

परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥ (पूर्वमीमांसा १।१।३१)

अर्थात् वेद मे जमदग्नि आदि शब्द सामान्य (यौगिक) शब्दों के तौर पर प्रयुक्त हुए हैं, पीछे से वह लोगो के नाम भी पड़ गये।

---

* मूर ने Original Sanskrit Texts के भाग ३ में १०५ अथवा कुछ अधिक मंत्र वेदों से ऐसे छांटे हैं, जिनमें ऋपियों के नाम हैं।

(२) शतपथ और जमदग्नि आदि शब्द

शतपथ मे वेद में आये जमदग्नि आदि शब्दों के अर्थ इस प्रकार किये गये हैं—

जमदग्नि	=आँख	(शतपथ ८।१।२।३)
वशिष्ठ	=प्राण	(,, ८।१।१।६)
भारद्वाज	=मन	(,, ८।१।१।९)
विश्वामित्र	=कान	(,, ८।१।२।६)
विश्वकर्मन्	=वाक	(,, ८।१।२।९)

इसी प्रकार से शुनःशेप के अर्थ निरुक्त मे विद्वान किये गये हैं। (देखो निरुक्त ३।२)

(३) ऐतरेयाऽऽरण्यक मे कई नामों के इस प्रकार अर्थ किये हैं—

गृत्समद—गृत्स प्राण और मद अपान को कहते हैं, इसलिये गृत्समद के अर्थ प्राण और अपान के हैं।

विश्वामित्र—समस्त इन्द्रियाँ प्राण के आश्रित है, इसलिये प्राण विश्वामित्र।

वामदेव—सब इंद्रियों मे प्राण वदनीय है, इसीलिये उसे वामदेव कहते हैं।

अग्नि—प्राण (निष्काम होने से) पाप से रक्षा करता है इसलिये वह अग्नि है।

भरद्वाज—वाज=प्रजा (इन्द्रियों) का भरण पोषण करने से प्राण= भरद्वाज है।

वसिष्ठ—इन्द्रियों को ढाँपने वाला होने से प्राण वसिष्ठ कहा जाता है।

अगाथ—प्राण समस्त शरीर मे 'प्रगत'=प्राप्त है, इसीलिये वह अगाथ है।

पावमानी—प्राण समस्त इन्द्रियों को शुद्ध करता है इसलिये पावमानी कहा जाता है।

(४) अस्तु, इन ब्राह्मण और आरण्यक तथा उपनिषद् आदि ग्रन्थों मे इसी प्रकार वेद में आये शब्दों के, जिन्हें ऋषियों का नाम कहा जाता है, अर्थ किये हैं। ऋषि दयानन्द ने निरुक्त पूर्वमीमांसा और शतपथ आदि ग्रन्थों पर, गहरी दृष्टि डालते हुये यह शैली वेदों

के अर्थ करने की बतलाई है कि वेद में प्रयुक्त सभी शब्द यौगिक हैं, रूढ़ि नहीं और इसीलिये स्थिर किया है कि वेद में इतिहास नहीं। मैक्समूलर ने एक जगह पश्चिमी प्रवाह के विरुद्ध, ऋषि दयानन्द का अनुकरण करते हुये बतलाया है कि वेदों में आये हुये शब्द ऋषियों के नाम या खिताब नहीं हैं।*

(५) राथ ने भी अपने प्रसिद्ध संस्कृत कोष के पहले भागके प्रारंभ ही मे (देखो पृष्ठ ४-६) प्रकट किया है कि वेदार्थ करने का उद्देश्य, सायण आदि कृत अर्थो का ग्रहण करना नहीं; बल्कि उन अर्थों का, जो वैदिक ऋषियो के मन मे थे, ढूँढ़ना है। सायण आदि अपने समय के विचारो का प्रतिबिम्ब वेदो मे देखते है। सत्य वेदार्थ, पंडित लोग चिरकाल से भूल चुके थे अतः अपने-अपने समय के विचारो का समावेश वेदों के अर्थ करने मे करते आये है। राथ की इस सम्मति पर गोल्डस्टूकर तो बहुत अप्रसन्न हुआ था; परन्तु ह्विटनी ने (On the translation of the Veda by Whitney) मे जे० म्यूर ने (On the interpratation of the Veda by J. Muir.) में, तथा वीवर ने (Indian wisdom by Weber) में, राथ के उपर्युक्त आशय को स्वीकार सा ही किया है।

---

* Names are to be found in the Vedas as it were, in a still fluid state They never appear as appellatives, nor yet as proper names; they are organic, nor got broken or smoothed down. (Sanskrit Literature P. 283) फिर इसी ग्रन्थ मे लिखा है कि प्रत्येक शब्द अपने वास्तविक अर्थो का कुछ-न-कुछ प्रकाश करता है.—Every word retains something of its radical meaning, everything epithet tells, every thought is, if we once disentangle it true correct and complete.

(Sanskrit Literature by Maxmuller P. 285).

वेद और पश्चिमी विद्वान्

कुछेक विद्वानों को, किसी-किसी अंश में छोड़ कर, सर्वांश मे उन्हें भी नहीं कह सकते। आम तौर से पश्चिमी विद्वानो ने वेदों और वैदिक साहित्य के साथ अन्याय किया है। प्रसग वश हम यहाँ कुछेक नमूने उनकी चमत्कारिक बुद्धि के दिखलाते हैं:—

(१) ड्यूसन—अपने एक ग्रन्थ मे, भारतवर्ष में, दर्शन शास्त्र का विकास दिखलाने के लिये, ड्यूसन ने लिखा है "वेदो में प्राकृति शक्तियो की पूजा थी, उन शक्तियों को, मानुषी भावों से प्रभावित माना जाता था। दार्शनिक विचार अंकुरित होने लगे थे। विश्व की एकता का विचार प्रारम्भ होने लगा था। 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' पर इस मत्रों से ईश्वर के नाम को ढूँढ़ने का प्रयत्न हो रहा था। प्रजापति नाम ढूँढ़ा भी जा चुका था। विचारो के विकास के साथ, इस (प्रजापति) का स्थान, उपनिषदों मे जाकर, ब्रह्म और आत्मा ने लिया।" पीछे के साहित्य से, मालूम होता है कि Pantheism = समष्टि जगत में ब्रह्मभावना, फिर Cosmogonism = सृष्टि और उसके नियमों के जानने की इच्छा, फिर आस्तिक वाद (Theism) फिर अन्त मे जाकर सांख्य में नास्तिकवाद (Atheism) का विकास हुआ। अस्तु ड्यूसन ने, आस्तिकवाद के लिए श्वेताश्वतर के निम्न वाक्य को, अपने कथन की पुष्टि मे, उद्धृत किया है: ❀—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षम्परिषस्वजाते।
तयोरन्य. पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

ड्यूसन की बनाई हुई ऊपर की सारी हवाई इमारत के गिराने के लिए इतना बतला देना काफी है कि यह मंत्र ऋग्वेद का है, मुडक तथा श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों मे, प्रमाण रूप मे उद्धृत हुआ है। वेद से इतने अनभिज्ञ लोग भी, वेद की आलोचना करने को, अपना अधिकार समझते हैं।

---

(१) Outlines of Indian Philosophy by Deussen.

(२) एक दूसरा उदाहरण दिया जाता है। वेद का यह एक प्रसिद्ध मंत्र है जिसमें ईश्वर की स्तुति की गई (अर्थात् उसे define किया गया) है :—

हिरण्यगर्भः संवर्ततग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

अर्थात "प्रारम्भ में (वह) हिरण्यगर्भ (जिसके अन्दर समस्त प्रकाशक लोक आदि हैं) जो उत्पन्न जगत् का एक ही स्वामी है, मौजूद था। वह समस्त प्रकाशक और अप्रकाशक लोकों का आधार है, उसीके लिये हमें हवि देनी चाहिये = उसकी उपासना करनी चाहिये।"

कितना सुन्दर मंत्र है और कितनी उत्तमता से उसमें ईश्वर का वर्णन किया गया है परन्तु मैक्समूलर ने हिरण्यगर्भ शब्द का अर्थ अण्डा करके मंत्र की मिट्टी पलीद कर डाली है।

(३) एक तीसरा उदाहरण और देकर इस प्रकरण को समाप्त कर देंगे।

वेद में "अज एकपाद" यह वाक्य अनेक जगह आया है। उदाहरण के लिये देखो।

शंनो अज एकपाद देवो × × (ऋग्वेद ७।३५।१३)

इस वाक्य के अर्थ हैं :—(एक पात्) जगत् रूप पाद वाला अर्थात् जिसके एक अंश में सब जगत् है (वह) अज = अजन्मा, देव. = ईश्वर (शंनः) हमारे कल्याण के लिये हो।

असल में "अज एकपाद" समास का रूप है जिसका असली रूप "अजस्य एक पादे" है अर्थात् अजन्मा (परमेश्वर) के एक अंश में यह सब जगत् है। परन्तु ग्रिफिथ ने जहां-जहाँ यह वाक्य आया है प्रत्येक जगह उसके अर्थ किये हैं one-footed goat अर्थात् एक पाव की बकरी। टी० पी० ऐयर ने भी, ग्रिफिथ का अनुकरण करके, अपने ग्रन्थ रिक्स (Riks) में जहां-जहां यह वाक्य आया है उसके अर्थ एक पाव की बकरी ही किया है। इस प्रकार इन पश्चिमी विद्वानों ने अनेक जगह अर्थ का अनर्थ ही किया है। इसलिये हम यहाँ पाठकों

से विनम्रता के साथ निवेदन करना चाहते हैं कि जब वे इन पश्चिमी लेखकों के ग्रन्थ पढ़ा करें और जहाँ कहीं इस प्रकार की अनर्गल बात मिले तो उसका, देशी विद्वानों से, निर्णय कराये विना, प्रमाण रूप में उसे न माना करें।

क्या वेद-मंत्र ऋषियों की रचना हैं?

वेद-मन्त्रों के साथ जो मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम लिखे चले आते हैं, उनको कुछ विद्वान् मन्त्रद्रष्टा नहीं अपितु मन्त्रकर्ता मानते हैं। मूर ने अपने एक ग्रन्थ (Original Sanskrit Text, vol. III) के तीसरे प्रकरण में ८० के लगभग मन्त्र दिये हैं जिनमें "कृ" और "तक्ष्" बनाना धातुओं के प्रयोग हुये हैं।

"पंचविंश" ब्राह्मण (देखो १३।३।१४) और ऐतरेय ब्राह्मण (देखो ६।१।१) में भी मन्त्रकृत् शब्द का प्रयोग हुआ है।

तैत्तिरीयारण्यक प्रपाठक ४ अनुवाक १ में भी मन्त्रकृत् शब्द आया है। उपर्युक्त विद्वान् अपने पक्ष की पुष्टि में ये और इसी प्रकार के हवाले दिया करते हैं। परन्तु सायणादि पौराणिक विद्वान् तक इन विद्वानों के पक्ष का समर्थन नहीं करते। यहाँ दो एक उदाहरण दिए जाते हैं।

(१) उपर्युक्त तैत्तिरीयारण्यक (४।१७) में प्रयुक्त वाक्य इस प्रकार है—

नमो ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः ॥

इसका भाष्य करते हुये सायणाचार्य ने इस प्रकार लिखा है—

"मन्त्र कृद्भ्यः मन्त्रं कुर्वन्तीति मन्त्रकृतः। यद्यप्यपौरुषेये वेदे कर्तारो न सन्ति तथापि कल्पादावीश्वरानुग्रहेण मन्त्राणां लब्धारो मन्त्रकृत उच्यन्ते ॥"

स्पष्ट है कि मंत्रग्रहणकर्ता (अग्नि, वायु आदि) ऋषियों को सायण मंत्रकर्ता शब्द में ग्रहण करता है। उसने उपर्युक्त सिद्धांत की पुष्टि में किसी स्मृतिकार का निम्न वाक्य भी दिया है—

युगान्तेऽन्तर्हितान्वेदान्सेतिहासान्महर्षय. ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥

अर्थात् युगान्त में लुप्त हुए वेदों को, ऋषिगण अपने पूर्व संचित तप से प्राप्त करते हैं। इस वाक्य को उद्धृत करते हुये सायण लिखता है—

'त एव महर्षयः (अग्नि वायु आदि)'
संप्रदायप्रवृत्या मन्त्राणां पालनात् मन्त्रपतय इत्युच्यन्ते ॥

अर्थात् उन्हीं वेदों को प्राप्त करनेवाले ऋषियों को "मन्त्रपति" भी कहते हैं।

(२) सर्पऋषिर्मन्त्रकृत् ॥ (ऐ० ब्राह्मण ६।१।१)

इस पर सायणाचार्य ने टीका करते हुये लिखा है—

"ऋषिः अतीन्द्रियार्थमन्त्रकृत्" ('कृ' धातुस्त्वत्र दर्शनार्थः) मन्त्रस्य-द्रष्टा। अर्थात् इस वाक्य में 'कृ' धातु दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त है और सर्प ऋषि मन्त्रकृत्=मन्त्रद्रष्टा है।

(३) यास्काचार्य ने भी सायण के उपर्युक्त भाव का बहुत पहले ही समर्थन किया है—

"ऋषिर्दर्शनात्स्तोमान्ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद् यदेनांस्तपस्य-मानान् ब्रह्म स्वयमाभ्यानर्षत ऋषयोऽभवंस्तदृषीणामृषित्व-मिति विज्ञायते ॥ (निरुक्त २।३।२)

अर्थात् (पश्यति ह्यसौ सूक्ष्मान् अर्थान्) ऋषि मन्त्र के सूक्ष्म अर्थों को देखता है। इसलिये उसे ऋषि कहते हैं। औपमन्यव का मत है कि जो स्तोम =वेद मन्त्रों को तपश्चर्या से उत्पन्न ज्ञान के द्वारा देखे उसे ऋषि कहते हैं।

(४) तै० आ० २।९।१ में भी औपमन्यव के वाक्य इसी प्रकार के मिलते हैं।

अजान ह वै पृश्नींस्तपस्यमानां ब्रह्म स्वयम्भाभ्यानर्षत
त ऋषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम् ॥

अर्थात् वेद (ब्रह्म) को (स्वयंभू) जो बिना किसी के रचे, स्वयं (ईश्वर द्वारा) प्रकट होने वाले, (आभ्यानर्षत) बिना पढ़े, अपने विशेष तप के कारण ऋषियों ने देखा, वही ऋषियों का ऋषित्व है।

(५) ऋष् गतौ धातु से ऋषि शब्द बनता है—ऋषि दयानन्द ने उणादि कोश मे इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

ऋषति गच्छति, प्राप्नोति जानाति वा स ऋषि. ॥

(उणादि कोश ४-१२)

(६) निरुक्त में एक जगह लिखा है—

"साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवु. तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्सम्प्रादुः ॥"

(निरुक्त १-६५)

अर्थात् धर्म को साक्षात् करनेवाले ऋषि होते है और जिन्होंने धर्म को साक्षात् नहीं किया है, ऐसे लोगो के लिये मन्त्रों का उपदेश किया है।

उपर्युक्त उद्धरण स्पष्ट करते है। ऋषि मन्त्रकर्ता नहीं थे अपितु मन्त्रों को साक्षात् करके उनका उपदेश और प्रचार करने वाले थे और "मन्त्रकृत्" में "कृ" धातु दर्शन अर्थ मे हैं इसलिये मन्त्रकृत् शब्द के अर्थ मन्त्रद्रष्टा ही हैं।

मंत्रक्रम नहीं बदलना चाहिये

निरुक्त में लिखा है—

"श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा
निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः ॥

(निरुक्त २३-१२)

भाव इनका यह है कि चाहे मन्त्रार्थ ब्राह्मण ग्रन्थो आदि के प्रमाण से करें, चाहे युक्ति और तर्क का आशय लेकर करे; परन्तु प्रत्येक दशा मे, प्रकरण से अलग करके, मन्त्रों का अर्थ न करें। इससे साफ जाहिर है कि मन्त्रो का जो क्रम है, उसीके अनुसार प्रकरण को देख कर ही मन्त्रार्थ ठीक हो सकता है, क्रम और प्रकरण से अलग करके नहीं।

प्रत्येक कल्प के आरम्भ में वेद

वादरायण ने वेदान्त के एक दूसरे सूत्र मे "समान नाम रूपत्वाच्चावृतावप्यविरोधोदर्शनात्स्मृतेश्च ।" (वेदान्त १।३।३०) अर्थात् वेद मन्त्रो मे वर्णित होने और ऋषियो द्वारा समर्थित होने से प्रत्येक कल्प मे वेदो और उनकी मन्त्रानुपूर्वी के समान होने से उनके नित्यत्व में कोई विरोध नहीं। अर्थात् प्रत्येक कल्प मे वेदो का नाम रूप समान होने और उसी प्रकार की रचना पाये जाने से उनके नित्यत्व मे कोई विरोध नही। वादरायण ने सूत्र के अन्त मे यह भी प्रकट किया है कि समस्त दर्शन और स्मृति भी वेदमंत्रो को अनुपूर्वी नित्य मानते है।

वेद चार ही हैं

विष्णुपुराण तथा महाभारत आदि ग्रन्थो में कहा गया है कि पहले वेद एक ही था; परन्तु व्यास और उनके शिष्य वैशम्पायन ने उन्हें चार भागो मे विभक्त करके उनके नाम ऋग्वेदादि रख दिये; परन्तु यह विचार सर्वथा भ्रममूलक है। एक ओर तो, पुराणो के नाम से यह बात कही जाती है कि चतुर्मुख ब्रह्मा के एक-एक मुख से एक-एक वेद प्रकट हुआ, दूसरी ओर उन्हें एक भी बताया जाता है। जब प्रत्येक वेद मे अन्य तीन वेदो के नाम मौजूद है फिर उनके चार होने मे सन्देह कैसे किया जा सकता है? महाभारत मे जहाँ एक वेद होने की बात एक जगह मिलती हैं, वहाँ दूसरे स्थानो पर चार वेदो का भी उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य मे चार वेद इतने प्रसिद्ध हैं कि उनके विरुद्ध कोई बात कही नहीं जा सकती। वाल्मीकि रामायण मे जब श्रीराम और लक्ष्मण किष्किन्धा पर्वत पर थे, तब रामचन्द्र ने हनुमान की बात सुनकर लक्ष्मण से कहा:—

नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेद धारिणः।
नासामवेद विदुषः शक्यमेवं प्रभाषितम्॥
(वा० रा० ४।३।२९)

अर्थात विना ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की शिक्षा प्राप्त किये ऐसा भाषण कोई नहीं कर सकता।

वाल्मीकि रामायण के इस श्लोक से स्पष्ट है कि उस समय ऋग्वेद आदि पृथक्-पृथक् थे। फिर सहस्रों वर्ष के बाद व्यास काल में उनका एक होना और व्यास आदि द्वारा उनका चार विभाग किया जाना किस प्रकार स्वीकार किया जा सकता है?

वेदों के ऋषि, देवता और छन्द

ऋग्वेद की अनुक्रमणिका में लिखा है:—

यस्य वाच्यं स ऋषिर्योतेनोच्यते।
सा देवता यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः॥

अर्थात् जिसका (मन्त्रार्थ सूचक) वचन है वह ऋषि, जो विषय कहा गया वह देवता और अक्षरों के परिमाण को छन्द कहते हैं।

ऋषि के सम्बन्ध में विस्तार के साथ वर्णन किया जा चुका है कि वे मन्त्रद्रष्टा होते हैं। मन्त्र का विषय देवता कहा जाता है और मन्त्रों के अक्षरों की संख्या की दृष्टि से गायत्री आदि मन्त्रों के छन्द कहे जाते हैं।

वेद में भाषा भेद नहीं

कुछेक पश्चिमी विद्वान् और कुछेक उन्हींके अनुयायी देशी विद्वान भी चारों वेदों की भाषा में भेद बतला कर उन्हें भिन्न-भिन्न काल का बना हुआ बतलाते हैं और कोई-कोई एक वेद के भिन्न-भिन्न भागों को भी कल्पित भाषा भेद बतला कर उन्हें भी भिन्न-भिन्न समय का बना हुआ बतलाते हैं। यह सब कल्पना और अटकल मात्र हैं। हम एक दो उदाहरण देकर उन पर विचार कर लेना काफी समझते हैं। मैक्डानल ने एक जगह लिखा है कि ऋग्वेद का दशम मंडल सबसे पीछे का बना हुआ है क्योंकि उसकी भाषा भिन्न है।* इस

---

(१) Sanskrit Literature by Mac-Donell P. 44

और इस मडल से सम्बन्धित अन्य ऐसे ही आक्षेपों पर विचार करते हुए श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने लिखा है:—"हमारी समझ मे तो दशम मंडल तथा (ऋग्वेद के) अन्य मंडलो की भाषा एक जैसी है। हमारी बुद्धि मे उनकी भाषा की विभिन्नता नहीं जचती, न जाने हमारा यह निर्णय बुद्धि की मलीनता अथवा श्रोत्रेन्द्रिय के दोष या हठ के कारण है।"

भाषा भेद का ज्ञान जितना सामश्रमी जैसे संस्कृत के विद्वान् को हो सकता है, उतना मेकडौनल को नहीं। इस सम्बन्ध मे हम एक घटना का उल्लेख करना चाहते है। कुछ काल बीता जब एक देशी संस्कृत और अगरेजी के विद्वान्, गवर्नमेन्ट से छात्रवृत्ति पाकर, संस्कृत के विशेष अध्ययन के लिये इङ्गलैड गये। संस्कृत के अध्यापक उस समय यही मेकडौनल महोदय थे। उनकी जब मेकडोनल से भेट हुई तो उन्होंने सस्कृत मे बातचीत शुरू की; परन्तु मैकडोनल उनसे सस्कृत मे बातचीत नहीं कर सके। उस समय मैकडोनल ने उन अपने होने वाले शिष्य से कहा कि "यह मैं स्वीकार करता हूँ कि सस्कृत का आपकी जितनी योग्यता है उतनी मेरी नहीं। और यह कि आप यहा सस्कृत साहित्य के अध्ययन के लिये भेजे भी नही गये हैं। यहॉ तो आप केवल इसलिए आये है कि पश्चिमी विद्वानो की अन्वेषण प्रणाली को आप सीख लेवे।" इस घटना से, पश्चिमी विद्वानों की आम तौर से, और विशेषकर मैकडोनल की संस्कृत भाषा की योग्यता का भली भॉति ज्ञान हो सकता है। इसलिये पश्चिमी विद्वानो की वेद की भाषा के सम्बन्ध मे, सम्मति अधिक ध्यान देने योग्य नही हो सकती। यहॉ एक बात कह देना कदाचित उपयोगी होगा कि इन्हीं मैकडोनल महोदय ने, इसी दशम मंडल के लिये लिखा है कि "तो भी इस (दशम) मंडल के सूक्त अधिकतर उन मिलावटो से प्राचीन प्रतीत होते है जो अन्य मंडलो मे की गई है।*

---

* Nevertheless the supplements collected in it

अन्य मंडलो मे मिलावट है या नहीं, इस सम्बन्ध मे हम आगे विचार करेंगे, परन्तु यह स्पष्ट है कि मैकडौनल ने अपने इस दूसरे कथन से, पहले कथन को, कि दसवाँ मडल अन्य मंडलो से भाषा की दृष्टि से पीछे का बना हुआ है, काट दिया और बात साफ हो गयी कि दशवे मंडल तथा अन्य मंडलो की भाषा मे अन्तर नही है। ऐसा ही अन्य समस्त वेदों के सम्बन्ध मे भी समझना उचित है।

यदि वेद चार हैं तो वेदत्रयी क्यों कहा जाता है?

चारो वेदो मे तीन प्रकार के मंत्र हैं। इसीको प्रकट करने के लिये पूर्व मीमासा मे कहा गया है:—

तेषां ऋग् यत्रार्थवशेन पाद व्यवस्था।
गीतिषु सामाख्या शेषे यजु. शब्द.।
(पूर्वमीमांसा २।१।३५-३७)

जिनमे अर्थवश पाद व्यवस्था है वे ऋक् कहे जाते हैं। जो मंत्र गायन किये जाते हैं वे साम और बाकी मंत्र यजु शब्द के अंतर्गत होते हैं। ये तीन प्रकार के मंत्र चारों वेदों मे फैले हुये हैं। यही बात सर्वानुक्रमणीवृत्ति की भूमिका मे "षड्गुरुशिष्य" ने कही है:—

"विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते।
ऋग् यजुः सामरूपेण मन्त्रोवेदचतुष्टये॥"

अर्थात यज्ञो मे तीन प्रकार के रूप वाले मंत्र विनियुक्त हुआ करते हैं। चारो वेदो मे (वे) ऋग, यजु और साम रूप से हैं।

तीन प्रकार के मंत्रों के होने, अथवा वेदों मे ज्ञान, कर्म और उपासना तीन प्रकार के कर्तव्यों के वर्णन करने से वेदत्रयी कहे जाते हैं। परन्तु इस वेदत्रयी शब्द मे चारो वेदो का समावेश है। अथर्व वेद मे एक जगह कहा गया है:—

---

appear for the most part to be older than the additions which occur in the earlier books (Do P.43-45)

विद्याश्चवा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरे ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥
(अथर्व ११-८-२३)

अर्थात् विद्या और अविद्या (ज्ञान + कर्म) और जो कुछ अन्य उपदेश करने योग्य है तथा ब्रह्म (अथर्ववेद), ऋक्, साम और यजु परमेश्वर के शरीर में प्रविष्ट हुये ।

व्हिटनी ने भी ब्रह्म को अथर्ववेद ही कहा है।* अथर्ववेद की तरह ऋग्वेद में भी चारों वेदों के नाम हैं:—

सो अङ्गिरोभिरङ्गिरस्तमोभूद्वृषा वृषभिः सखिभिः सखा सन् ।
ऋग्मिभिर्ऋग्मीगातुभिर्ज्येष्ठो मरुत्वान्नो भवत्विन्द्र ऊती ॥
(ऋग्वेद १।१००।४)

अर्थात् जो अथर्वांगिरः मंत्रों से उत्तम रीति से युक्त है, जो सुख की वर्षा के साधनों से सुख सींचने वाला है, जो मित्रों के साथ मित्र है, जो ऋग्वेदी के साथ ऋग्वेदी है, जो साम (मंत्र गान) से ज्येष्ठ होता है, वह महान् इन्द्र (ईश्वर) हमारी रक्षा करे ।

इस मंत्र में अथर्ववेद का स्पष्ट रीति से नाम लिया गया है जब ऋग्वेद स्वयं अथर्ववेद के वेदत्व को स्वीकार करता है तो फिर अथर्ववेद को नया बतलाकर वेद की सीमा से बाहर करना साहसमात्र है ।

क्या ब्राह्मण ग्रंथ वेद हैं ?

महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनि ने इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट रीति से दिया है:—

चतुर्वेदविद्भिर्ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्महर्षिभिः प्रोक्तानि
यानिवेदव्याख्यानि तानि ब्राह्मणानीति ।
(महाभाष्य ४।१।१)

* Brahman perhaps is here the charm representing the Atharvan hymns. (Whitney.)

अर्थात् चारों वेदों के वेत्ता और ईश्वर भक्त ब्राह्मणों तथा महर्षियों ने जो वेदों के व्याख्यान किये है वे ब्राह्मण ग्रन्थ कहे जाते है।

स्पष्ट है कि ब्राह्मण वेद नहीं अपितु उनके व्याख्यान हैं। इस सम्बन्ध मे निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं:—

(१) ब्राह्मणों में अनेक वेदमंत्रो के व्याख्यान किये हुये मिलते हैं। जैसे—ऋग्वेद १-२४-३ का व्याख्यान ऐतरेय ब्राह्मण १-१६ में है, यजुर्वेद के पहले मन्त्र की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण १-७-१ मे है तथा सामवेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या तांड्य ब्राह्मण ११-२-३ मे है। इत्यादि।

(२) ब्राह्मण ग्रन्थ उस समय की रचना हैं जब देश मे स्त्रियों तथा शूद्रों का मान कम हो चुका था। एक जगह एक ब्राह्मण मे लिखा है:—(१) स्त्री, शूद्र, कुत्ता और कौवा असत्य हैं। यज्ञकर्ता इन्हें न देखे। (२) स्त्री के साथ मित्रता नहीं हो सकती, क्योंकि उसका हृदय हिंसक जन्तु के समान क्रूर होता है तथा (३) परंपरा से स्त्रियों की प्रवृत्ति सांसारिक और व्यर्थ पदार्थों की ओर अधिक होती है। इसीलिये वे नाचने, गाने, बजाने वालो की ओर शीघ्र आकर्षित हो जाती हैं इत्यादि। परन्तु वेद मे इसके विरुद्ध स्त्रियों का बड़ा मान है, पुरुष के समान इन्हें सभी अधिकार दिये गये हैं। एक जगह ऋग्वेद में कहा गया है:—

ओं सम्राज्ञी श्वशुरे भव, सम्राज्ञी श्वश्रवां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥

(ऋग्वेद १०।८५।४६)

इस मंत्र से वधू को आशीर्वाद दिया गया है कि वह पतिगृह में आकर ससुर, सास, नन्द और देवर सब पर शासन करने वाली सम्राज्ञी हो। अतः वेद और ब्राह्मण का अन्तर साफ तौर से दिखाई देने लगता है।

(३) ब्राह्मण इतिहास हैं। इनमें अनेक स्त्री, पुरुषों, राजा, रानियों के इतिहास मिलते हैं। जब कि वेद इतिहास रहित और यौगिक शब्द

रखने वाले हैं, जिनके भीतर इतिहास होने की सम्भावना ही नहीं हो सकती।

वेदों की शाखायें

वेदों के शाखाओं की गणना महाभाष्य आदि ग्रन्थों के आधार पर इस प्रकार है:—

ऋग्वेद की २०, यजुर्वेद की १००, सामवेद की ९९९ और अथर्ववेद की ८ इनका योग ११२७ होता है। महाभाष्य आदि में जो शाखाओं की सख्या दी है, वह मूल वेदो को शामिल करके दी है। इसीलिये उनकी वर्णित शाखा संज्ञा का योग ११३१ है। इनमें से ४ मूल वेदो के निकाल देने से वही ११२७ शाखाओ की वास्तविक संख्या रह जाती है। इन शाखाओ मे से इस समय केवल सात या आठ शाखाये मिलती हैं, वाकी नष्ट-भ्रष्ट हो गई। जो शाखायें मिलती है उनमें से तैत्तिरीय शाखा (कृष्ण यजुर्वेद) वेद और ब्राहाण दोनों का सम्मिश्रण है वाकी शाखाओ के लिये कहा जाता है कि उनमें क्रम भेद करके यज्ञो के अनुकूल कर लिया गया है। सामवेद के १००० शाखाओ के लिये कहा जाता है कि सामगान के भेद से इतनी शाखायें हो गई। पुराणों मे शाखाओ के सम्बन्ध मे अनेक परस्पर विरोधी लेख मिलते है, जिनमे शाखाओं का संख्या भेद भी वतलाया गया है।

वेदों की रक्षा का प्रबन्ध

पहला उपाय

वेदो की रक्षा का जो पहला प्रबन्ध किया गया था वह वेदों का पाठ था। आठ प्रकार के क्रम पाठ वर्णन मे किये गये हैं:—

अष्टौ विकृतयः प्रोक्ता क्रम पूर्वा मनोपिभिः।
जटा, माला, शिखा, लेखा, ध्वजो, दण्डो, रथो, घनः॥

इन आठ क्रम पाठो में से जटा और दण्ड प्रधान हैं, क्योंकि जटा के पीछे चलने वाली शिखा है और दण्ड की अनुसारिणी माला,

लेखा, ध्वज और रथ हैं। घन उपर्युक्त जटा और दण्ड के पीछे चलता है। इन क्रम पाठों में कुछ और भेद करके, प्रत्येक मन्त्र के ग्यारह-ग्यारह प्रकार से पाठ करने का विधान किया गया है। ये पाठ काशी, मिथिला, नदिया और बम्बई तथा मद्रास आदि में आज भी होते है। वेद के एक-एक शब्दो को जब ग्यारह-ग्यारह वार पढ़ा जाता था तो किस प्रकार सम्भव हो सकता था कि उनमे किसी प्रकार की मिलावट हो सके। यहाँ हम सामवेद के पाठ का संक्षिप्त सा उदाहरण देते हैं, जिससे समझा जा सके कि ये पाठ किस प्रकार हुआ करते हैं—

(१) क्रम पाठ—

१ २;२, ३,३, ४;४, ५;५, ६;६, ७;७, ८;
भूः भुवः भुवः स्वः; स्वः तत्; तत् सवतुः।

(२) जटा पाठ—

१ २,२ १.१, २, २, ३,३ २,२, ३; ३, ४,४, ३,३ ४;
भूः भुवः, भुव. भूः, भूः, भुवः; भुवः स्वः स्वः भुवः भुवः स्वः।

(३) घन पाठ—

१, २,२, १,१, २;३, ३,२; १,१, २, ३;
२, ३,३; २,२, ३;४, ४,३; २,२, ३,
भूः भुवः भुवः; भूः भूः भुवः; स्व. स्वः भुवः;
भूः भूः भुवः स्वः।

यह पाठक्रम अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है। ऐतरेय आरण्यक तथा प्रातिशाख्य आदि प्राचीन ग्रन्थो मे उसका वर्णन है।* श्री पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थत्रयी परिचय मे लिखा है कि इन जटा आदि पाठो के नियम, व्याडि प्रणीत विकृति पल्ली नामक पुस्तक मे अङ्कित हैं।

दूसरा उपाय

चारों वेदो की छन्द संख्या, पद संख्या, मन्त्र संख्या तथा मन्त्रानु-

---

* Lectures on the origin of Religion by Max Muller P. 169.

क्रम से छन्द, ऋषि, देवता बताने के लिये "अनुक्रमणी" नामक ग्रन्थ तयार किये गये थे जो अब तक मिलते हैं और एक वेद की एक ही अनुक्रमणी नहीं अपितु अनेक अनुक्रमणी आज भी मौजूद है। जैसे (१) ऋग्वेद के अनुक्रमणियों के नाम इस प्रकार हैं:—(१) शौनकानुक्रमणी, (२) अनुवाकानुक्रमणी, (३) सूक्तानुक्रमणी, (४) आर्षानुक्रमणी, (५) छन्दानुक्रमणी, (६) देवानुक्रमणी, (७) कात्यायनीयानुक्रमणी, (८) सर्वानुक्रमणी,|(९) ऋग्विधान, वृतद्देवता।

(२) यजुर्वेद की (१) मन्त्रार्षाध्याय, (२) कात्यायनीयसर्वानुक्रमणी, (३) प्रातिशाख्य सूत्र तथा (४) निगम परिशिष्ट।

(३) सामवेद की (१) आर्षेय ब्राह्मण, (२) नैगमेयानामृक्ष्वार्षम्, (३) नैगमेयानामृक्षु दैवतम्।

(४) अथर्ववेद की वृहत्सर्वानुक्रमणी।

मैक्समूलर ने इन अनुक्रमणियों पर, अपने एक ग्रन्थ मे विचार करते हुए लिखा है कि "ऋग्वेद की अनुक्रमणी से हम उसके सूक्तों और पदों की पड़ताल करके निर्भीकता से कह सकते है कि अब भी ऋग्वेद के मंत्रों, शब्दों और पदों की वही संख्या है जो कात्यायन के समय में थी *।

चरणव्यूह परिशिष्ट मे वेदों के अक्षरों तक की संख्या मिलती है, जैसे ऋग्वेद के अक्षरों की संख्या ४३२००० तथा यजुर्वेद की २५३८६८ है।

तीसरा उपाय

उपर्युक्त अनुक्रमणियों की विद्वानों ने टीकायें करके उन्हें और भी सुरक्षित कर दिया है। इसके सिवा वेदों के अनेक भाष्य किये हुए मिलते हैं, जिनसे भी वेदों की रक्षा होती है।

इतने साधन रक्षा के होते हुए भी कुछेक व्यक्ति कहते हैं कि वेदों में प्रक्षेप हैं, परन्तु वे अज्ञात नहीं, जहां-जहां भी प्रक्षेप हैं उन्हें वेद के

* Ancient Sanskrit Literature by Max Muller P. 117.

विद्वान् जानते हैं। ऐसा कहने वालों और वेदों मे प्रक्षेप बतलाने वालों में, सुगमता के साथ, पं० रघुनन्दन शर्मा का नाम लिया जा सकता है। उन्होंने अपने बड़े मूल्यवान ग्रन्थ वैदिक संपति में, इस विषय का समावेश किया है। इसलिये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस प्रकरण को समाप्त करने से पहले उस पर विचार कर लिया जावे।
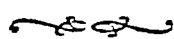
वैदिक सम्पत्ति और वेद

वैदिक सम्पत्ति के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा ने वैदिक सम्पत्ति में वेदो में प्रक्षेप होने का प्रश्न उठाया है और उनमे प्रक्षेप होना बतलाया है। उनकी स्थिति अच्छी तरह से समझ ली जावे इसलिये हम पहले उनका मत कुछ विवरण के साथ दिये देते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड मे वेदो का विवरण दिया है। उन्होंने वहाँ लिखा है कि:—

"इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अपौरुषेयता और ईश्वर प्रदत्तता ऋग्यजु, साम और अथर्व ही को प्राप्त है अन्य को नहीं।" (पृष्ठ ५३२)

"यह स्पष्ट हो जाने पर कि ब्राह्मण ग्रन्थों को अपौरुषेयत्व प्राप्त नहीं है, वे संहिताओं के व्याख्यान ही हैं और यह भी स्पष्ट हो जाने पर कि अथर्ववेद भी अपौरुषेय है, वेदों की इयत्ता निर्धारित हो जाती है और ज्ञान हो जाता है कि अपौरुषेय वेद चार हैं और उनके नाम ऋग्, यजु, साम और अथर्व हैं।" (पृष्ठ ५३९)

वेद की शाखायें

अर्थों को निश्चित करने के लिये मूल संहिता के सिवा मूल संहिता को पदपाठ संहिता का रूप दिया गया। ऐतरेय आरण्यक में लिखा है जिसमें सन्धि ज्यों की त्यों बनी रहती है वह निर्भुज संहिता और

जिसमें सन्धि के बिना केवल पदों का उच्चारण होता है वह प्रतृण्णा से संहिता कही जाती है* ।

वेदों की शाखा का पहला रूप यही था । फिर इसी आरण्यक में लिखा है' कि जब आगे चलकर प्रतृण (पदपाठ) संहिता जटा माला आदि × भेदों से विकृत हो जाती है और तब उसे क्रम संहिता कहते हैं । अभिप्राय यह है कि मूल मन्त्रो के सिवा जिसमें उनके पद भी अलग-अलग हो और इन पदों की विकृति भी हो वह क्रम संहिता कही जाती है ।

शाखाओं की समाप्ति यहाँ पर नहीं हुई । बृहद्देवता के अनुसार देवता, ऋषि, छंद और अर्थभेद से सूक्तो के अनेक भेद हो गये ।+ इस प्रकार सूक्त आदि के भेदों से शाखाओं की संख्या मे और वृद्धि हुई । देवता परक सूक्तो को एकत्र करने से दैवत शाखा, ऋषि परक सूक्तों को इकट्ठे करने से, आर्ष शाखा कही जाने लगी ।

रघुनन्दन शर्मा का कहना है कि "यद्यपि मन्त्रो का इतना अधिक उलट फेर हुआ परन्तु अब तक मन्त्रो मे पाठ भेद अथवा न्यूनाधिकता नहीं हुई ।" (पृष्ठ ४२)

फिर वे लिखते हैं कि :—"किन्तु कृष्ण यजुर्वेद के अवतार धारण करते ही वैदिक शाखाओ में उथल पुथल शुरू हुआ । रावणादि कृत साहित्य के सम्मिश्रण से शाखाओं मे गड़बड मची और संहिताओ में ब्राह्मण भाग तथा ब्राह्मणोत्तर भाग भी मिला मिला कर अथवा मूल मन्त्रो ही को घटा बढा कर और पाठ भेद कर करके अनेक शाखाओ को जन्म दिया गया ।" (पृष्ठ ४४३)

---

* यदि सन्धि विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपम् अथ यत् शुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत् प्रतृण्णस्य (ऐतरेय आरण्यक ३।१।३) ।

' अग्र उभयो भवमन्तरेणोभयं व्याप्तं भवति । (ऐतरेय आरण्यक ३।१।३)

× जटा माला शिखा लेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः ।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रम पूर्वा मनीषिभिः ॥ (विकृति वल्ली १।५)

+ देवतार्षार्थ छन्दोभ्यो वैविध्यं तस्य जायते ॥ (बृहद्देवता १।२४)

इस कथन के बाद रघुनन्दन शर्मा ने अपने ग्रन्थ के उद्देश्य से इन शाखाओं के दो भेद किये हैं, एक को उन्होंने आर्य और दूसरे को अनार्य शाखा का नाम दिया है।

जिन शाखाओं में मूल मन्त्रों की ज्यों की त्यों रक्षा करते हुए केवल मन्त्रों के उलट फेर से उन्हें बनाया गया वे आर्य शाखा और जिनमें मन्त्रों में पाठ भेद करके आसुरी साहित्य ब्राह्मण भाग और मनः कल्पित बाह्य संस्कृत का मिश्रण करके रचा गया उन्हें अनार्य्य शाखा का नाम दिया है। (पृष्ठ ५४३)

आर्य शाखा

शर्माजी ने आर्य शाखाओं का उत्तम नमूना (ऋग्वेद की) शाकल और वाष्कल आदि शाखाओं को बतलाया है और अनार्य्य शाखाओं का नमूना तैत्तिरीय और काठक आदि को कहा है।

इन दोनों प्रकार की शाखाओं का उदाहरण देते हुए, उन्होंने एक बार फिर कहा है कि आर्य शाखाओं में उलट फेर के अतिरिक्त न्यूनाधिक्य नहीं है पर अनार्य शाखाओं में दोनों बातें विद्यमान हैं।

(देखो पृष्ठ ५४३, ५४४)

ऋग्वेद की उपर्युक्त आर्य शाखाओं में से उनके एक शाखाकार शाकल (या शाकल्य) को ऋग्वेद को मंडल और सूक्तों में विभाग करने वाला और सबसे पहला शाखाकार माना जाता है। वाष्कल, जो शाकल्य का शिष्य कहा जाता है, और जिसे ऋग्वेद को अष्टकादि विभागों में विभक्त करने वाला बतलाया जाता है, वह शाकल्य के बाद का शाखाकार समझा और माना जाता है तो भी ये दोनों शाखायें अत्यन्त प्राचीन और आदिमकालीन स्वीकार की जाती हैं। शाकल्य के विभाग के सदृश वाष्कल के विभाग के लिये भी, रघुनन्दन शर्मा ने लिखा है कि "इस विभाजन के कारण मन्त्रों के केवल संख्या अंक ही फिरे और किसी प्रकार का फेरफार नहीं हुआ। इसलिये वैदिकों ने दोनों को एक ही मानकर मिला दिया। अब तक

दोनों शाखायें एक ही में मिली हुई मिलती हैं और केवल इतिहास स्मरणार्थ दोनों प्रकार के पते (मंडल तथा अष्टक) वर्तमान ऋग्वेद के पृष्ठों मे लिखे रहते हैं। यह क्रम आदि काल से ही चला आता है। इस प्रकार से यह आदि प्रवचन कर्ता की स्थिर की हुई ऋग्वेद शाखा प्राप्त है और इसमें अब तक आरम्भिक संहिता के प्रकृत मन्त्र और पदपाठ दोनों एक ही मे छपते है। × × × इसलिए आदिम अपौरुषेय ऋग्वेद संहिता पूर्ण रूप से प्राप्त है इसमें जरा भी संदेह नहीं।" (पृष्ठ ५४५)

ऋग्वेद की तरह यजुर्वेद की शाखाओं पर विचार करते हुए रघुनन्दन शर्मा ने लिखा है—"इसलिये माध्यन्दिनीय शाखा (वर्तमान यजुर्वेद) ही आदि मूल और अपौरुषेय है इसमे सन्देह नहीं।" (पृष्ठ ५४८)

इसी प्रकार सामवेद के सम्बन्ध मे लिखा है—"इसलिये उत्तर भारत से सम्बन्ध रखने वाली और गुर्जर (दक्षिण गुजरात) तक फैली हुई कौथुमी शाखा (वर्तमान सामवेद) ही आर्य शाखा है और आर्य शाखा ही मौलिक है, अतएव कौथुमी शाखा के आदि अर्थात् अपौरुषेय होने मे कुछ भी सन्देह नहीं है। (पृष्ट ५४९)

अथर्ववेद की शाखाओं पर विचार करने के बाद निष्कर्ष यह निकाला है—"मूल आर्य और अपौरुषेय संहिता तो शौनक संहिता (वर्तमान अथर्ववेद) ही है। वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के साथ सनातन से पठन पाठन मे चली आ रही है, इसी पर भाष्यकारों ने भाष्य किये हैं, और उसीमे वेद के सब लक्षण पाये जाते हैं। इसलिये शौनक संहिता ही सनातन ईश्वर प्रदत्त (अथर्ववेद) है, इसमे सन्देह नहीं। (देखो पृष्ठ ५५०)

प्रक्षेप

इस प्रकार रघुनन्दन शर्मा ने चारो वेदों को न्यूनाधिक्य से रहित और ईश्वर प्रदत्त मानने के बाद उनमे प्रक्षेप होने का प्रश्न उठाते हुये

लिखा है:—"जहाँ तक हमको ज्ञात है अब तक एक भी प्रमाण इस बात का उपस्थित नहीं किया गया कि अमुक स्थल प्रक्षिप्त है और इसको आज तक कोई नहीं जानता था। जिन स्थानों को प्रक्षिप्त बतलाया जाता है वे बहुत दिन (ब्राह्मण काल) से सबको ज्ञात हैं। वे प्रक्षिप्त नहीं हैं किन्तु एक प्रकार के परिशिष्ट हैं जो लेखकों और प्रेस वालों की असावधानी से मूल में घुस कर मूल जैसे मालूम होते हैं। वालखिल्य सूक्त ऋग्वेद में, खिल अर्थात् ब्राह्मण भाग यजुर्वेद में, आरण्यक और महा नाम्नी सूक्त सामवेद में और कुन्ताप सूक्त अथर्ववेद में मिले हुये हैं।"

अब हम इन कथित प्रक्षेपों पर विचार करते हैं।

प्रक्षेपों पर विचार

ऋग्वेद

हम सबसे पहले ऋग्वेद के कथित प्रक्षिप्त या परिशिष्ट पर विचार करते हैं। रघुनन्दन शर्मा ने स्वीकार किया है कि शाखाओं का काल ब्राह्मण काल के बहुत पूर्व का है (देखो पृष्ठ ५४१) और यह भी माना है कि शाखा आरम्भ काल के बहुत दिन बाद संहिताओं में खैलिक भाग=प्रक्षिप्त भाग—जोड़े गये हैं और उन खैलिक भागों का वर्णन ब्राह्मणों में है। (देखो पृष्ठ ५४१)

शर्मा जी ने इस प्रकरण में यह नहीं बतलाया है और यह बतलाना उनके लिये आवश्यक था कि वालखिल्य सूक्त किस ब्राह्मण से लेकर ऋग्वेद में जोड़े गये हैं। उन्होंने वालखिल्य सूक्तों के प्रक्षिप्त होने के दो प्रमाण दिये हैं—

पहला प्रमाण

ऐतरेय ब्राह्मण का है। ऐतरेय ब्राह्मण के ६।२।८ में लिखा है 'वज्रेण वालखिल्याभिर्वाचः कूटेन'। इस वाक्य के भाष्य में सायणाचार्य ने

लिखा है कि वालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनसे सम्बन्ध रखने वाले आठ सूक्त हैं। वे खिल्य नाम के ग्रन्थ में लिखे गये हैं।*

इस पर हमारा कहना यह है कि ऐतरेय ब्राह्मण का यह वाक्य इतना स्पष्ट नहीं है जैसा उसे शर्माजी ने समझा है यदि यह मान भी लिया जावे तो उसके अन्त के अध्याय प्रक्षिप्त बतलाये जाते हैं † शर्माजी का दिया हुआ प्रमाण इसी प्रक्षिप्त भाग के अन्तर्गत है इस-लिये कोई अप्रमाणिक लेख किसी दूसरे के अप्रमाणित करने में प्रमाण किस प्रकार माना जा सकता है ? सायणाचार्य का कोई (केचन) शब्द स्वयं बतलाता है कि उसको वालखिल्य किसी कथित महर्षि का कुछ ज्ञान नहीं था। उसने, ऐसा प्रतीत होता है कि, विना किसी प्रमाण के ही वालखिल्य ऋषि और उनके कथित वालखिल्य ग्रन्थ की कल्पना कर ली। देशी और विदेशी विद्वानों ने जो संस्कृत साहित्य के इति-हास लिखे हैं उनमें कोई वालखिल्य नामक ग्रन्थ नहीं देखने में आता।

(२) दूसरा प्रमाण शर्माजी ने किसी अनुवाकानुक्रमणि से दिया है। उसमें लिखा है कि खिल भाग को छोड़ कर ऋग्वेद के एक सहस्र सूक्त निश्चित हैं।‡ परन्तु इसी अनुवाकानुक्रमणि के नाम से पं० भगवतदत्त ने लिखा है कि शाकल शाखा में १०१७ सूक्त और बाष्कल शाखा में इससे आठ अधिक सूक्त अर्थात् १०२५ सूक्त हैं।+ इससे स्पष्ट हो जाता है कि रघुनन्दन शर्मा का उद्धृत किया हुआ वाक्य ऋग्वेद संहिता से नहीं अपितु किसी शाखा विशेष से सम्बन्धित

---

* वालखिल्य नामकाः केचन महर्षयः तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि वालखिल्यनाम के ग्रन्थे समाम्नायन्ते। (सायणाचार्य)

† देखो Encyclopædia Britanica में प्राचीन संस्कृत (Ancient Sanskrit literature) सम्बन्धी लेख।

‡ सहस्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खिलवर्जितम्॥ (अनुवाकानुक्रमणि)

\+ एतत् सहस्रं दश सप्त चैवाष्टावतो बाष्कलकेऽधिकानि। तान्पारणे शाकले शैशिरीये वदन्ति शिष्टा न खिलेषु विप्राः॥ ३६॥

है जिसमें वालखिल्य सूक्तो के सिवा और भी १४ सूक्त वाष्कल शाखा से कम होंगे। शर्माजी को ऋग्वेद की केवल दो शाखाओं का पता चला था, परन्तु उनके पीछे और भी अनेक शाखाओं का ज्ञान विद्वानों को हुआ और उन्होंने उन (अश्वलायन आदि शाखाओं का उल्लेख अपने ग्रन्थो मे किया है।*

अस्तु वालखिल्य सूक्त जव वाष्कल शाखा मे मौजूद हैं और जव शर्माजी शाकल और वाष्कल दोनो शाखाओ के लिये स्वीकार करते हैं कि 'वैदिको ने दोनों (शाकल+वाष्कल) को एक मान कर एक में लिख दिया और अब तक दोनों शाखायें एक ही मे मिली मिलती हैं।" जैसा ऊपर लिखा जा चुका है तो वे किस प्रकार से कह सकते हैं कि वालखिल्य सूक्त परिशिष्ट हैं मूल नहीं।

स्वामी हरप्रसाद और वेदों का प्रक्षेप विषय

प० रघुनन्दन शर्मा ने अपने ग्रन्थ मे प्रक्षेप और पुनरुक्ति का विषय स्वामी हरप्रसाद के वेद सर्वस्व के आधार से शुरू किया है (देखो पृष्ट ५५१) परन्तु उन्हें समझना चाहिये था कि स्वामी हरप्रसाद तो ऋग्वेद के सिवा अन्य वेदो को अपौरुपेय वेद ही नहीं मानते फिर उनके लिये उनका प्रक्षेप का विषय उठाना कैसा ?

उन्होंने एक जगह लिखा है:—

यजुर्वेद—

"यज्ञ कर्म मे सम्बन्ध रखने वाले सम्पूर्ण यजु नाम के मन्त्रों का ऋग्वेद संहिता मे अलग करके, उनमें कुछ सामयिक भाषा में लिखे हुए ब्राह्मण नाम के गद्य भाग को यथोचित स्थान मे सम्मिलित करके यज्ञ पद्धति के रूप मे लिख दिया गया। इसीका नाम पीछे से यजुर्वेद हो गया।"

---

* देखो पं० भगवद्दत्त कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास। (पृष्ट ९८-१०२)

सामवेद—

"इसी प्रकार यज्ञ कर्म मे गाये जाने वाले साम नाम के मन्त्रों को ऋग्वेद से अलग करके क्रम विशेष के रूप मे लिख दिया गया। उसीका नाम सामवेद हो गया।"

अथर्ववेद—

"प्राचीन साहित्य के रूप मे परम्परा से प्राप्त थोड़े मन्त्रो मे बहुत अधिक ऋचा मन्त्रों को मिलाकर और "ऐतश प्रलाप" इत्यादि घृणित तया व्यर्थ अनेको ग्रामीण वाक्यो का समिश्रण करके अथर्ववेद संहिता तैयार की गई।"*

जिस व्यक्ति के इस प्रकार के तुच्छ विचार हो उसका वेदो के प्रक्षेप आदि से क्या मतलब ? रघुनन्दनजी को उनके लेख पर ध्यान नही देना चाहिए था अन्यथा वे इस प्रक्षेप होने के भ्रम मे न पड़ते।

बालखिल्य सूक्त

ये सूक्त ऋग्वेद संहिता के अन्दर उसके जन्मकाल ही से सम्मिलित हैं। प्रादुर्भूत हुई शाखाओं मे से किन्हीं मे उन्हें लिखा गया किन्हीं मे नहीं। शाखाओं मे सूक्त और मन्त्र संख्या भेद उसी समय से चला आता है जबसे उनका जन्म हुआ। इसीलिये शाकल्य और वाष्कल प्राचीनतम शाखाओं मे भी. जिन्हें रघुनन्दनजी ने आर्य शाखा माना और जिनमे मन्त्र संख्या मे न्यूनाधिक्य न होना लिखा है, सूक्त संख्या भेद है। इन शाखाओं से ऋग्वेद संहिता पृथक् थी और उसमे बालखिल्य सूक्त सम्मिलित थे। इसीलिए पं० भगवतदत्त ने लिखा है:—

"यथा शाकलो में कई बालखिल्य सूक्त नहीं हैं परन्तु बाष्कलों मे वे मिलते हैं। मूल ऋग्वेद मे ये सारे समाविष्ट हैं।"†

---

* "[illegible]" पुस्तक ला० [illegible] रचित पृष्ठ ३ से ५ तक।

† वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग। पृष्ठ ७६।

"इनमें आठवें मण्डल के ११ सूक्तो में आये हुए ८० वालखिल्य मन्त्र भी सम्मिलित हैं। ये ऋग्वेद के अङ्ग हैं।"*

इन्हीं वालखिल्य सूक्तो की प्राचीनता के सम्बन्ध मे विन्टर निट्ज ने लिखा है:—"खिल शब्द के अर्थ परिशिष्ट के हैं और यह नाम स्वयं प्रकट करता है कि यह मूल है और एकत्रित करके संहिता में पीछे से शामिल किये गये। परन्तु यह सम्भावना है कि इन (खिल मन्त्रो) मे से कुछेक की प्राचीनता ऋग्वेद की अन्य ऋचाओ से कम नहीं। यह बात समझ मे नहीं आती कि इन्हें परिशिष्ट क्यो कहा गया ?"† फिर उसने लिखा है कि "ये ११ सूक्त वालखिल्य के सभी हस्तलिखित कापियो मे पाए जाते हैं।"‡

इन सब बातों पर विचार करने के बाद हमारी सम्मति यह है कि ये वालखिल्य सूक्त न प्रक्षिप्त हैं और न परिशिष्ट; किन्तु वेद के अङ्ग हैं। मालूम यह होता है कि ये सूक्त प्रारम्भ में बहुत प्रचलित थे और यह भी सम्भव है कि कोई वालखिल्य नामक व्यक्ति उनका प्रचारक हो। इसलिये उसीके नाम से इनकी प्रसिद्धि हो गई हो, और सुगमता से लोगों को मिल जॉय, इसलिए उनको प्रारम्भ और अन्त

---

* वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग। पृष्ठ १३५।

† The word Khila means "supplement" and this name in itself indicates that they are texts which were collected and added to the samhita only after the latter had already been conducted. This does not exclude the possibility that some of these Khilas are of no less antiquity than the hyms of the Rigved Samhita but for some reason unknown to us were not included in the collection.

(A History of Indian Literature by Mr. Winter-nitz P. 59-60)

‡ The eleven Bal Khillya hymns ...in all manu-sripts are found at the end of the book VIII. (P. 60)

में "अथ" और "इति" किसी ने लगा दी। पीछे से यह अथ और इति पुस्तक का अङ्ग बन गई। पं० रघुनन्दन शर्मा का यह अनुमान ठीक नहीं कि लेखकों के प्रमाद से ये सूक्त अंत में रहने की जगह मूल में शामिल हो गये। ये सूक्त आठवें मण्डल के भी अन्त में नहीं किन्तु उसके बीच में है। ग्रीफेथ ने यह ईमानदारी का काम नहीं किया कि अपने ऋग्वेद के अनुवाद में इन्हें आठवें मण्डल के बीच से निकाल कर अन्त में रख दिया है। मेक्समूलर ने जो शुद्ध ऋग्वेद का संस्करण यूरोप में था उसमें भी ये सूक्त मौजूद है।

यजुर्वेद

रघुनन्दन जी ने यजुर्वेद में प्रक्षिप्त होने के लिए जो प्रमाण दिये हैं उनमें से एक-एक को लेकर उन पर विचार किया जावेगा।

पहला आक्षेप

सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि ऋचा, खिल और शुक्रिय मन्त्रों के सहित माध्यन्दिनीय यजुर्वेद के ऋषि, देवता और छन्दों की अनुक्रमणी बनाता हूं।* इस पर रघुनन्दन जी का कहना यह है कि यहाँ खिल भाग का प्रत्यक्ष इशारा है।

हमारा उत्तर

खिल परिशिष्ट (appendix) को कहते हैं, प्रक्षिप्त को नहीं। किसी ग्रन्थ के परिशिष्ट के लिये यही समझा और माना जाता है कि वह उसी ग्रन्थकर्त्ता की रचना है, जिसका वह ग्रन्थ है। फिर उसे बाहर का भाग क्यों समझना चाहिये? यहाँ यह बात समझ लेनी चाहिये कि हम माध्यन्दिन शाखा को मूल यजुर्वेद नहीं मानते। केवल इतना कह सकते हैं कि इस शाखा में मन्त्रों की संख्या मूल यजुर्वेद के अनुकूल है, न्यूनाधिक्य नहीं किया गया है। व्यास का

---

* माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिये।
ऋषि दैवत छन्दांस्यनुक्रमिष्यामः॥ सर्वानुक्रमणि॥

शिष्य वैशम्पायन था जिसने तैत्तिरीय शाखा (कृष्ण यजुर्वेद) का प्रचार किया था। उसका शिष्य याज्ञवल्क्य था जो शतपथ ब्राह्मण का रचयिता था और जनक आदि से जिसका सम्वाद बृहदारण्यकोपनिषद् में अङ्कित है। उसीको वाजसनेय याज्ञवल्क्य भी कहते हैं। उसका वैशम्पायन से बिगाड़ हो गया था इसलिए कि वह (याज्ञवल्क्य) तैत्तिरीय शाखा के प्रचार का विरोधी था। याज्ञवल्क्य के १५ शिष्य थे, जिनमें से प्रत्येक ने यजुर्वेद की एक-एक शाखा का प्रचार किया था। इन्हींमें से दो शिष्य काण्व और मध्यन्दिन भी थे, जिन्होंने काण्व और माध्यन्दिन शाखाओं का प्रचार किया था। याज्ञवल्क्य के शिष्य मूलवेद के यथासम्भव साथ-साथ चलते थे। कृष्ण यजुर्वेद की तरह वे १९७५ मन्त्रों को बढ़ाकर १८००० कर देने के विरोधी थे। यही कारण वैशम्पायन और याज्ञवल्क्य के बिगाड़ का था। स्पष्ट है कि इन काण्व और माध्यन्दिन शाखाओं का प्रादुर्भाव ५००० वर्ष (महाभारत काल) से कुछ इधर ही हुआ है। परन्तु मूल यजुर्वेद इससे बहुत पहले प्रादुर्भूत हो चुका था। किष्किन्धा पर हनुमान की योग्यता के लिए राम ने लक्ष्मण से कहा था कि बिना ऋक्, यजु और सामवेदों के जाने कोई इस प्रकार की बात नहीं कर सकता। जैसा कि पहले कहा जा चुका है*।

ब्राह्मण ग्रन्थ, शाखाओं के बनने के बहुत पीछे बने हैं। इसलिए शाखाओं के बनने से पूर्व उपस्थित वेदों में ब्राह्मण भागांश का मिश्रण स्वीकार नहीं किया जा सकता।

यजुर्वेद के विषय

यजुर्वेद के विषयों पर विचार करने से पं० रघुनन्दन शर्मा के कहे कल्पित खिल भाग का स्पष्टीकरण हो जाता है।

---

* नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेद धारिणः।
नासामवेद विदुषः शक्यमेवं प्रभाषितुम्॥
(वाल्मीकीय रामायण ४।३।२९)

सं०	अध्याय	विषय
(१)	१, २	दर्श पौर्णिमा यज्ञ
(२)	३	दैनिक तथा चातुर्मास यज्ञ
(३)	चौथे से आठवे अध्याय तक	सोमयज्ञ
(४)	नवॉ तथा दसवॉ अध्याय	वाजपेय राजसूय यज्ञाङ्ग मन्त्र समूह
(५)	ग्यारहवे से अठारहवे तक	वेदी की तय्यारी आदि
(६)	१९ से २१ वे अध्याय तक	सौत्रामणि यज्ञ
(७)	२२ से २५ तक	अश्वमेध यज्ञ
(८)	२६ से २९ वे तक	प्रारम्भिक यज्ञ सम्बन्धी नियम
(९)	३० से ३९ तक	पुरुषमेध, पितृमेध, सर्वमेध और प्रवर्ग्य के नियम और विधि
(१०)	४० वॉ अध्याय	ब्रह्मविद्या (ज्ञानकाण्ड)

महीधर और उव्वट ने यजुर्वेद की टीका करते हुए २५ अध्याय तक की, जहॉ तक, किसी न किसी यज्ञ का विधान है, मूल और बाकी अध्याय जिनमे उन यज्ञो से सम्बन्धित अन्य बाते तथा यज्ञेतर शिक्षाये है, उन्हे खिल अर्थात मूल २५ अध्याय का स्पष्टीकरण तथा विस्तार आदि लिखा है। इसका कदापि यह मतलब नहीं हो सकता कि ये अध्याय पीछे के मिलाये हुए है।

दूसरा आक्षेप

सर्वानुक्रमणी मे लिखा है कि (१) यजुर्वेद १९।१२ के "देवा यज्ञ-मतन्वत" मन्त्र से लेकर २० अनुष्टुप् छन्द ब्राह्मण भाग है।

(२) समस्त २४ वॉ अध्याय और २५ वे अध्याय के आरम्भ के "शाद" से लेकर ९ मन्त्र भी ब्राह्मण हैं।

(३) यजुर्वेद अध्याय ३० के "ब्रह्मणे ब्राह्मणम्" से लेकर सारा अध्याय ब्राह्मण है।

हमारा उत्तर

पहले आक्षेप के उत्तरान्त से प्रकट है कि इस वेद के २५ वे अध्याय तक तो किसी ने उन्हें मूल के सिवा खिल कहने तक का साहस ही नहीं किया फिर सर्वानुक्रमणीकार किस प्रकार उन्हें वेद से बाहर का भाग कह सकता था ? सर्वानुक्रमणीकार का भाव समझने में यूरप के विद्वानों को तो भ्रम हुआ ही करता था, परन्तु आश्चर्य है कि शर्माजी भी उसी भ्रम मे पड़ गये। पहला उत्तर तो यह है कि यदि उपर्युक्त मन्त्र ब्राह्मण ग्रन्थों के वाक्य हैं तो पता देना चाहिए था कि किस ब्राह्मण के ये वाक्य हैं ? दूसरी बात यह कि ब्राह्मण ग्रन्थ छन्दो में हैं भी नहीं, फिर छन्द उनके अंश किस प्रकार से हो सकते हैं ? फिर इन छन्दों के देवता और ऋषि भी प्रजापति और गौतम आदि ऐसे व्यक्ति हैं जो प्रायः सभी ब्राह्मणकारों से सहस्रों वर्ष पहले हो चुके है।

असल बात यह प्रतीत होती है कि ब्राह्मणो मे कर्मकाण्ड की प्रधानता होने से, ब्राह्मण शब्द, ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना से बहुत पहले से, कर्मकाण्ड के लिए प्रयुक्त होने लगा था। इसीलिए कर्मकाण्ड के ग्रन्थ शतपथ आदि जब रचे गये तब उनके कर्ताओं ने, कर्मकाण्ड मे रूढ़ि हुए ब्राह्मण शब्द ही को, उन ग्रन्थों के नाम के लिए उपयोगी समझकर उनका नाम ब्राह्मण रक्खा। इसी प्रथा के अनुकूल सर्वानुक्रमणीकार ने भी, ब्राह्मण शब्द, कर्मकाण्ड के अर्थों मे प्रयुक्त किया है। इसीलिए उनका यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि उपर्युक्त मन्त्र कर्मकाण्ड विभाग के हैं। इनमे प्रक्षेप आदि की बात ढूँढ़ना व्यर्थ है।

तीसरा आक्षेप

रघुनन्दनजी ने बिना पते के एक श्लोक* लिखकर प्रकट किया है कि इसके अनुसार यजुर्वेद के मन्त्र १९०० है परन्तु वर्तमान

---

* द्वे सहस्रे शतेन्यूने मन्त्रे वाजसनेयके।
इत्युक्त परिसंख्यान मेतत्सर्वं सशुक्रियम ॥

यजुर्वेद में १९७५ मन्त्र हैं इसलिए ७५ मन्त्र कहीं बाहर से लाकर जोड़े गये हैं।

हमारा उत्तर

पं० भगवद्दत्त ने यजुर्वेद के मन्त्रों की संख्या काशी के शिक्षा संग्रह में मुद्रित वासिष्ठी शिक्षा के अनुसार १९७५ ही दी है।* यह संख्या उन्होंने अध्यायवार दी है। इसलिए यजुर्वेद की मन्त्र संख्या १९०० कहना भूल है। जो श्लोक शर्माजी ने दिया है उसमें किसी ने थोड़ी सी चालाकी की है। पं० भगवद्दत्त ने दो श्लोक, जो वायुपुराण अध्याय ६१ के ६७ व ६८ वे श्लोक हैं, अपने ग्रन्थ में दिये हैं और वे इस प्रकार हैं।†

द्वे सहस्रे शतेन्यूने मन्त्रे वाजसनेयके।
ऋग्गणः परि संख्यातो ब्राह्मणंतु चतुर्गुणम्॥
अष्टौ सहस्राणि शतानिचाष्टावशीतिर न्यान्यधिकश्च पादः।
एतत् प्रमाणं यजुषामृचां च स शुक्रियं सखिलं याज्ञवल्क्यम्॥

ये दोनों श्लोक, ब्रह्माण्ड पुराण पूर्व भाग अध्याय ३५ के भी श्लोक ७६ व ७७ हैं। दूसरे श्लोक में याज्ञवल्क्य से सम्बन्धित समस्त शाखाओं के ऋचा और यजु मन्त्रों का योग ८८८० और एक पाद दिया है और पहले श्लोक में केवल ऋचा (पाद व्यवस्था वाले) मन्त्रों का योग १९०० दिया है। जिसका अभिप्रायः यह है कि (शेषे) यजु मन्त्र ६९८० और एक पाद है। १९०० ऋचाओं के बतलाने के लिये श्लोक में "ऋग्गणः परिसंख्यातो" पाठ आया है। रघुनन्दन शर्मा ने जो श्लोक यजुर्वेद की मन्त्र संख्या १९०० बतलाने के लिए दिया है वह इन दो श्लोकों में से पहले का विकृत रूप है। उसमें किसी चालाक ने "ऋग्गणः" की जगह "इत्युक्त" शब्द कर दिया है। जिससे यजुर्वेद की मंत्र संख्या १९०० समझी जावे। एक चरण व्यूह में भी यह श्लोक है वहां इसका पाठ इस प्रकार है:—

---

* देखो पं० भगवद्दत्त रचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास। पृष्ठ १३०-१३२।
† ,, ,, पृष्ठ १३४।

द्वे सहस्रे शतेन्यूने मन्त्रे वाजसनेयके।
ऋगगण: परि सख्या ततस्तोऽन्यानि यजूंषि च ॥

इससे भी वही "ऋगगण" पाठ है।

अत स्पष्ट है कि यह आक्षेप भी पं० रघुनन्दन शर्मा के दिये हुए श्लोक से पुष्ट नहीं होता।

यहाँ यह बात समझ लेना चाहिए कि वाजसनेयो की १५ शाखाओं मे भी मन्त्र भेद हैं। उदाहरण के लिए काण्व शाखा को देखे तो उसमे २०८६ मन्त्र है। वाजसनेयी शाखाओं मे माध्यन्दिनीय शाखा क्यो समस्त भारत में प्रचलित हो गयी ? इसका कारण केवल यह है कि उक्त शाखाकार माध्यन्दिन ने अपनी शाखा मे मूल संहिता की मन्त्र सख्या १९७५ को, ज्यो का त्यो बनाये रक्खा, उसमे कुछ न्यूनाधिक्य नहीं किया। इसीलिए कई प्रेस अब भी मूल यजुर्वेद को माध्यन्दिनीय शाखा कह कर छापा करते हैं।

चौथा आक्षेप

यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र, "नतस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यश" (देखो यजुर्वेद ३२।३) पर है। शर्माजी का आक्षेप मन्त्र के दूसरे चरण पर है। वे कहते हैं कि इस मन्त्र मे आधा भाग तो मन्त्र का है परन्तु आधा भाग, तीन भिन्न-भिन्न स्थलों मे आये हुए मंत्रो की प्रतीकों का, बतलाने वाला वाक्य (प्रक्षिप्त) वाक्य है।

हमारा उत्तर

प्रतीक बतलाने वाला वाक्य बाहर का (प्रक्षिप्त) वाक्य क्यो कहा जा सकता है ? क्या एक ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ के किसी उत्तर भाग मे अपने पूर्व भाग की प्रतीक नहीं दे सकता ? यदि एक कर्म मे किन्हीं ऐसे मन्त्रो की आवश्यकता है जो उससे पूर्व उसी ग्रन्थ मे आ चुके हैं तो वहाँ समस्त मन्त्रों के दोहराने की जगह उनकी प्रतीक दे देनी काफी समझी जा सकती है और यही बात इस आक्षेपान्तर्गत मन्त्र में की गई है। इस मन्त्र में, यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय से पूर्व आए

हुए एक यजुर्वेद के आठवें, दूसरी बारहवे और तीसरी (हिरण्यगर्भः सम्वर्तताग्रे) तेरहवें अध्याय में आए हुए मन्त्रों की प्रतीके है। शर्मा जी ने एक होशियारी की है और वह यह है कि "हिरण्यगर्भः इति" प्रतीक का पता यजुर्वेद १३।४ का न देकर ऋग्वेद ८।७।६ का दिया है, जिससे यह मत्र यजुर्वेद का न समझा जाकर ऋग्वेद का समझा जावे। आश्चर्य है कि ऐसा क्यो किया गया है ? अस्तु ! यहाँ यजुर्वेद के सम्बन्ध मे जो परिमित आक्षेप, उसमे मिलावट होने के सम्बन्ध मे थे, समाप्त हो जाते है।

सामवेद—

पहला आक्षेप

सामवेद की महानाम्नी ऋचाये और आरण्य भाग परिशिष्ट हैं। महानाम्नी ऋचाओं के परिशिष्ट होने के प्रमाण में शर्मा जी ने ऐतरेय ब्राह्मण का एक वाक्य उपस्थित किया है जिसका भाव यह है कि इन (महानाम्नी) ऋचाओं को प्रजापति ने वेद की सीमा से बाहर बनाया है। यहाँ महानाम्नी ऋचाये, स्पष्ट रीति से ऋग्वेद की सीमा के बाहर बतलाई गई है*। इसके सम्बन्ध मे हमारा उत्तर यह है कि ऐतरेय ब्राह्मण के वाक्य से यह स्पष्ट नही होता कि ये ऋचाये परिशिष्ट हैं। इस वाक्य मे इन ऋचाओं को प्रजापति (ईश्वर) की रचना कहा गया है फिर इनके मिलावटी होने का प्रश्न कैसा ? इस वाक्य का अर्थ पं० रघुनन्दनजी ने यह समझा है कि "ये ऋचायें स्पष्ट रीति से ऋग्वेद की सीमा से बाहर बतलाई गई हैं। !" जब ये ऋचायें सामवेद की हैं तो साफ जाहिर है कि इन्हें ऋग्वेद की सीमा से बाहर तो होना ही चाहिए था। वेद सर्वस्व के कर्ता स्वा० हरप्रसाद, जिनके लेखों पर ही शर्मा जी के ये सब आक्षेप हैं, उन्होंने ७४ मन्त्रों का एक सामवेद

* वाऽएता सीम्नोऽध्यसृजत । यदेता सीम्नोऽध्यसृजत तस्मात् सीमा अभवन् तत्सीमानां सीमात्वम् ॥ ऐतरेय ब्राह्मण २२-२

! वैदिक सम्पत्ति पृष्ठ ५५३

छापा था, जिनमे ऋग्वेद के मन्त्रों को निकाल कर सामवेद के असली ७५ मन्त्र उन्होने छापे थे। उन मन्त्रो मे स्वामी हरप्रसाद ने भी, इन ऋचाओं को सामवेद की असली ऋचा कह कर छापा था। स्पष्ट है कि इन ऋचाओं के परिशिष्ट होने के सम्बन्ध में शर्मा जी के हेतु अहेतु हैं।

आरण्यक भाग के लिये शर्माजी ने लिखा है कि "यह भी परिशिष्ट है। पूर्वार्चिक के छठे खण्ड मे जहाँ यह आरण्यक खण्ड जुड़ा हुआ है, उसमें (दो की जगह) तीन विभाग छपे हुये हैं। यह तीसरा विभाग ही आरण्यक है। इसे सायणाचार्य्य ने भी परिशिष्ट ही कहा है और उसके देखने मात्र से यह परिशिष्ट मालूम हो जाता है।" (पृष्ठ सं० ५५३)

हमारा उत्तर

हमने छठे प्रपाठक के तीसरे भाग (आरण्यक) को ध्यानपूर्वक देखा। आरण्यक के कुल ५५ मन्त्र हैं, जिनमे ४२ मन्त्र ऋग्वेद के है और इनमें ११ मन्त्र ऐसे हैं जो सामवेद ही के ऐसे स्थानो-उत्तरार्चिक आदि मे आये हैं, जिन्हें कोई परिशिष्ट नहीं कहता। ऐसी दशा मे इन समस्त आरण्यक मन्त्रों को परिशिष्ट कहना वे फायदे धूल उड़ाना है। सामवेद मे ७५ के सिवा सभी ऋग्वेद के मन्त्र हैं, उन्हें कौन परिशिष्ट कहने का साहस कर सकता है?

अथर्ववेद—

पहला आक्षेप

अथर्ववेद के कुन्ताप सूत्र भी खिल ही के नाम से प्रसिद्ध हैं। हेतु केवल यह है कि इनके प्रारम्भ और अन्त मे "अथ" और "इति" लिखा है। दूसरा हेतु यह है कि स्वामी हरप्रसाद ने वालखिल्य सूक्तों की तरह इनको भी परिशिष्ट माना है।

हमारा उत्तर

अथर्ववेद के २० वे काण्ड के, १२७ से १३६ तक के सूक्त, कुन्ताप

सूक्त कहे जाते है। इनके परिशिष्ट होने के ऊपर जो हेतु दिये गये हैं, वे दोनो अहेतु हैं। उन्हीं हेतुओ से जो हमने ऋग्वेद के वालखिल्य सूक्तो के असली वेद होने के सम्बन्ध में दिये है, हम इन सूक्तो को भी अथर्ववेद का मूलांश ही मानते है।

दूसरा आक्षेप

अथर्ववेद के १९ वे काण्ड के सूक्त २२ और २३ मे लिखा है।

अङ्गिरसानामाध्यै पञ्चानुवाकैः स्वाहा।

आथर्वणानां चतु ऋचेभ्यः स्वाहा॥

इस पर शर्माजी का कहना है कि "ये वाक्य कहीं बाहर के है ऐसे वाक्य स्वय प्रक्षिप्त होने की सूचना दे रहे है।" (देखो पृष्ठ ५५४)

हमारा उत्तर

यजुर्वेद से सम्बन्धित चौथे आक्षेप के उत्तर मे जो हेतु दिये गये है, उन्हीं हेतुओ से हम इन वाक्यों को परिक्षिप्त नहीं अपितु मूल वेद का अश ही समझते हैं, क्योंकि ये वाक्य अथर्ववेद ही मे इससे पहले आ चुके हैं। वेद मे पहले आये हुए मन्त्रो से, उसके बाद की किसी विधि मे, आहुति देने के लिए प्रयुक्त शब्द मिलावटी हैं, ऐसा मानने के लिये कोई नियम नहीं।

"उपसंहार"

असल मे पं० रघुनन्दन शर्मा ने स्वामी हरप्रसाद के लेखो पर इतना विचारा किया, जिसके वे योग्य नहीं थे और यही कारण है कि उनके प्रशसनीय ग्रन्थ (वैदिक सम्पत्ति) पर, ये निर्मूल आक्षेप, धब्बा लगाने वाले है। पाठक गण देखेगे कि आक्षेप कुछ महत्व पूर्ण नहीं और उनके द्वारा व्यर्थ एक प्रश्न (वेदो मे प्रक्षेप होने का) उठाया गया, जिसके उठाने के लिये कोई प्रबल हेतु नहीं थे। जब वेदों की रक्षा का इतना प्रबन्ध किया गया है, जिसका कुछ उल्लेख ऊपर किया गया है, फिर उनमे मिलावट की गन्ध सूघना हमे अपनी ही नाक का दोष कहा जा सकता है।

उपवेद तथा अङ्गोपाङ्ग

ऋग्वेद आदि चार वेद अपौरुषेय होने से स्वतः प्रमाण है। अन्य सभी ग्रन्थ वेदानुकूल होने से परतः प्रमाण माने जाते हैं। वैदिक साहित्य का विवरण इस प्रकार है:—

चार उपवेद

१ आयुर्वेद—

अर्थात् वैद्यक शास्त्र सुश्रुत, धन्वन्तरि कृत निघंटु तथा चरक आदि सब मिलकर आयुर्वेद कहा जाता है। ये ऋग्वेद के उपवेद हैं। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिये कि अथर्ववेद मे भी वैद्यक, अधिक विवरण के साथ वर्णित है।

२ धनुर्वेद—

जिसमे शस्त्रास्त्र विद्या के निर्माण और प्रयोग का विधान है। अंगिरा, भारद्वाज आदि कृत संहितायें, इस विद्या के प्राचीन ग्रन्थ हैं। भोज कृत "समराङ्गण सूत्रधार" भी इस विद्या का अनुपम ग्रन्थ है।

३ गान्धर्ववेद—

नारद संहिता आदि इस उपवेद से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। इस उपवेद का अधिकतर सम्बन्ध सामगान आदि से है।

४ अर्थवेद—

शिल्पशास्त्र से सम्बन्धित विश्वकर्मा, त्वष्टा, देवज्ञ और मय कृत संहितायें इस उपवेद के प्राचीन ग्रन्थ हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र भी इस विषय का अपूर्व ग्रन्थ है।

छः अङ्ग

१ शिक्षा—

अक्षरो के उच्चारण को वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम, सन्तान के भेद से, पूर्ण उन्नत किये जाने की विधि बतलाने वाले शास्त्र को शिक्षा

कहते है। प्राचीन ग्रन्थो के सिवा, ऋषि दयानन्द कृत वर्णोच्चारण शिक्षा, इस विषय का उपयोगी ग्रन्थ है।

२ कल्प—

वेद के मन्त्रो को, याज्ञिक कर्मकाण्ड मे विनियुक्त करना तथा विनियुक्त करने की विधि बतलाना इस शास्त्र का काम है। आश्वलायन आदि कल्पसूत्र, प्रत्येक वेद के पृथक्-पृथक् है।

३ व्याकरण—

व्याकरण का संक्षिप्त विवरण, इसी अध्याय मे, इससे पूर्व संस्कृत भाषा के प्रसंग मे दिया जा चुका है।

४ निरुक्त—

इस समय केवल यास्काचार्य्य का निरुक्त मिलता है तथा निघंटु भी। इस निरुक्त के तीन भाग हैः—(१) नैघण्टुक भाग—इसमें वैदिक शब्दो के पर्य्याय दिये गये हैं। (२) नैगम व्याख्या—वेद मंत्रों तथा शब्दो का व्याख्यान इस भाग मे है। (३) दैवतव्याख्या—अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओ की व्याख्या इस भाग मे है।

५ छन्द—

इस शास्त्र मे वैदिक छन्दो का वर्णन है। गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, वृहती, पंक्ती, त्रिष्टुप्, जगती, विराट, अतिजगती, शक्वरी, अति शक्वरी, अष्टि, अत्यष्टि, धृति अतिधृति, एकपदा, द्विपदा, प्रगाथ वदित, प्रगाथककुभ तथा महावदति ये २० प्रसिद्ध छन्द है।

६ ज्योतिष—

सूर्य चंद्र आदि नक्षत्रो की गतिविधि आदि बतलाने वाले ग्रन्थों को ज्योतिष शास्त्र कहते है। सूर्य्यसिद्धान्त आदि इस विषय के उपयोगी ग्रन्थ है।

छः उपाङ्ग

१ न्याय दर्शन—

तर्क प्रधान दर्शन है। कोलब्रुक तथा बोटलिंग ने प्रकट किया है

कि न्याय पूर्णतया तर्क पर आश्रित है और अरस्तु के संप्रदाय के नियम उससे मिलते हैं। न्यायदर्शनकार प्रबल तार्किक होने पर भी वेद का बलपूर्वक समर्थन करता है। उसने लिखा है:—

मन्त्रायुर्वेद प्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्मास प्रामाण्यात्।

(न्याय २।१।६७)

अर्थात् आप्त प्रमाण होने से वेद ऐसे ही मान्य और विश्वसनीय है। जैसे मन्त्रों का फल और आयुर्वेद।

वेदों के कथित तीन दोष

न्याय दर्शनकार ने, न केवल वेदों का प्रामाण्य स्वीकार किया है किन्तु वेदों पर जो तीन दोष लगाये जाते है उनका भी परिहार किया है। वे दोष जो वेदों पर लगाये जाते हैं, न्यायदर्शन के उत्तर के साथ, उनका यहाँ उल्लेख किया जाता है:—

पहला दोष (मिथ्यात्व)

वेद में कर्मों के जो फल बतलाये हैं वे कर्म करने वालों को प्राप्त नहीं होते, इसलिये वेद सत्य ग्रन्थ नहीं हैं।

न्यायदर्शन का उत्तर

न्याय इसका उत्तर यह देता है:—

"नकर्म कर्तृ साधन वैगुण्यात्" ॥ (२।१।५७)

अर्थात् वेदोक्त फल की प्राप्ति के न होने का कारण, कर्म करने वाले की क्रिया और साधन तथा स्वयं कर्त्ता में दोष का होना है। यदि ये दोष न हो तो अवश्य फल प्राप्त हो।

इससे वेदों की असत्यता प्रकट नहीं होती है।

दूसरा दोष (व्याघात)

भिन्न-भिन्न समयों मे परस्पर विरोधी बातों का करना व्याघात दोष नहीं कहा जा सकता, इसलिये वेदो मे व्याघात दोष नहीं। न्याय दर्शन का उत्तर इस प्रकार है:—

अभ्युपेत्य कालभेदे दोष वचनात् ॥ (२।१।५८)

अर्थात् अंगीकार करके काल का भेद करने पर दोष कहा है।

यदि कर्ता काल का भेद न करे अर्थात् जिस समय के लिये जो काम बतलाया गया है वह कर्म उसी समय करे तो उसे व्याघात दोष प्रतीत न हो। ब्रह्मचर्य काल मे ब्रह्मचर्य की और गृहस्थकाल मे गृहस्थ की विधि वेद मे वर्णित है। यदि कर्ता दोनो कर्म उनके नियत समय पर करे तो उसे विरोध कुछ न प्रतीत हो, परन्तु जब ब्रह्मचर्य के काल मे गृहस्थ और गृहस्थकाल मे ब्रह्मचर्य करे तो उसे दोष प्रतीत होगा। यह वेद मे व्याघात होने का सबूत नहीं अपितु कर्ता के नियत समय पर नियत कर्म न करने का दोष है।

तीसरा दोष (पुनरुक्ति)

अभ्यास मे कर्ता जो पुनरुक्त दोष समझता है वह उसीका दोष होता है वेद का नहीं। न्यायकार ने कहा है:—

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ (२।१।५९)

अर्थात् "अनुवाद की उपपत्ति होने से"।

सार्थक अभ्यास अनुवाद और निरर्थक अभ्यास पुनरुक्त कहा जाता है। तीन बार गायत्री का जप करना अथवा इस ऋचा को दो बार पढ़ना यह अनुवाद है पुनरुक्ति नहीं। यहाँ दर्शनकार ने प्रकट किया है कि विधि वाक्य, अर्थवाद वाक्य और अनुवाद वाक्य के द्वारा शास्त्रीय वाक्य काम मे लाये जाते हैं। इन्हें पुनरुक्ति नहीं कह सकते। इनके लक्षण दर्शनकार ने इस प्रकार किये हैं:—

विधिर्विधायकः ॥ (२।१।६२)

जो वाक्य विधायक होता है उसे विधि वाक्य कहते है, जैसे स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र करे।

स्तुतिर्निन्दा पर कृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ (२।१।६३)

(१) स्तुति, निन्दा, परकृति और पुराकल्प; यह चार प्रकार का अर्थवाद होता है। विधि वाक्य के प्रशंसा का नाम स्तुति है। इस

स्तुति से प्रवृत्ति होती है जैसे पुरुषार्थ करके देवो ने असुरो को जीत लिया इत्यादि। (२) अनिष्ट फल निन्दा कहा जाता है। (३) जो वाक्य मनुष्यो के कर्मों मे परस्पर विरोध दिखावे उसे परकृति कहते है। (४) इतिहासयुक्त विधि को पुराकल्प कहते हैं। जैसे जनक संसार मे अलिप्त होने से महान् यशस्वी वना, ऐसे हम भी वनें।

विधि विहितम्यानुवचनमनुवाद: ॥ (२।१।६४)

विधि से जो विधान किया गया हो उनका अनुवचन अनुवाद कहाता है। पहला शब्दानुवाद और दूसरा अर्थानुवाद कहा जाता है। जैसे सन्ध्या करो। यह विधि वाक्य है। इससे शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति होगी, यह अर्थवाद हुआ। इसलिये अवश्य सन्ध्या करो, अवश्य सन्ध्या करो। यह अनुवाद हुआ। इसे पुनरुक्ति वतलाना, वतलाने वाले का दोप है। वेद का नहीं। इस प्रकार न्यायदर्शन ने वेद का समर्थन करते हुये उन्हें निर्दोष ठहराया है।

२—वैशेपिक दर्शन—

यह दर्शन सामान्य और विशेष पदार्थों की, मुख्य रीति से मीमांसा करता है। दर्शनकार ने प्रारम्भ से अन्त तक वेद को स्वत. प्रमाण के रूप मे देखा है और अपने सिद्धान्तों की पुष्टि के लिये भी वेद का आश्रय लिया है। दर्शन के प्रारम्भ ही मे—

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् (१।१।३)

इस सूत्र मे वर्णित है कि "ईश्वर का वचन होने से वेद का प्रामाण्य है। फिर एक दूसरी जगह लिखा है कि वेदो मे वाक्य रचना वुद्धिपूर्वक है।

वुद्धि पूर्वा वाक्य कृतिर्वेदे (६।१।१)

इसके सिवा अनेक सूत्र वेदो के अन्तिम प्रमाण स्वीकार करने के लिये दिये हैं :—

(१) तस्मादा गमिकम् (२।१।१७)

इसलिये शब्द प्रमाण सिद्ध है।

(२) तस्मादागमिकः (३।२।८)

इस कारण वेद सिद्ध हैं।

(३) वेद लिङ्गाच्च (४।२।१२)

वेद के प्रमाण से भी (अयोनिज योनि सिद्ध है)।

(४) वेदिकञ्च (५।२।१०)

वेद का भी यही सिद्धान्त है (कि अग्नि औषधियों का गर्भ है)॥

(५) शास्त्र सामर्थ्याच्च (३।२।२१)

शास्त्र के सामर्थ्य से भी (आत्मा अनेक सिद्ध है)।

३—सांख्य दर्शन—

सांख्य दर्शन यद्यपि प्रकृति का दर्शन है, परन्तु उसने भी वेद के प्रमाण को स्वीकार किया है। यह बात, इससे पहले भी, एक जगह लिखी जा चुकी है। एक सूत्र मे

श्रुति विरोधान्न कुतर्काऽपसदस्यात्मलाभः (६।३४)

वर्णन किया है कि "श्रुति के" विरुद्ध होने से कुतर्क करने वाले को आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। इस सूत्र के द्वारा भी सांख्यकार ने वेद के प्रमाण होने को स्वीकार किया है।

४—योग दर्शन—

योग दर्शन मे एक जगह कहा गया है कि "उस (ईश्वर) मे सर्वज्ञ होना ऐसा निमित्त है जो उससे अधिक किसी मे नहीं।"

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम् (१।२५)

ईश्वर को इस प्रकार समस्त ज्ञान का स्रोत कहते हुए बतलाया गया है कि वह (ईश्वर) जिसका काल विभाग नहीं कर सकता पूर्व (देव्य) ऋषियों का भी गुरु है।

स पूर्वेमेषामपि गुरुः कालेनाऽन वच्छेदात् (योग १।२६)

अर्थात उसने जगत के प्रारम्भ में वेदरूपी ज्ञान देकर मनुष्यों को शिक्षित बनाया। यह दर्शन भी सिद्ध करता है कि वेद ईश्वर का ज्ञान है और इसीलिये प्रमाण है।

५—पूर्व मीमांसा—

मैक्समूलर ने लिखा है कि दर्शनकार के उत्तर प्रत्युत्तर मेरे लिए अत्यन्त आकर्षक है, और इनका तर्क विशुद्धता की दृष्टि से अद्वितीय है*।

(२) कोलब्रूक ने लिखा है कि मीमांसा का तर्क कानूनी तर्क है। नागरिक और धार्मिक नियमो के अर्थ लगाने की विधि वतलाई गई है। प्रत्येक विवादास्पद विषय की, मीमांसाकार ने जॉच करके उनका निर्णय सार्वत्रिक नियमो के अनुकूल किया है। इस प्रकार वने निर्णय नियम दर्शन मे संग्रहीत हैं। इनके सुनियमित प्रवंध से कानून का दार्शनिक ज्ञान होता है। सचमुच मीमांसा मे ऐसा ही करने का प्रयत्न किया गया है†।

मीमांसा से सम्वन्धित इन सम्मतियों के जानने के वाद अव यह

---

* To me these Mimansik discussions are extremely attractive and for accuracy of reasoning they have no equal anywhere (Six systems of Indian Philosophy by Max Muller. P. 146)

† The logic of the Mimansa is the logic of the law, the rule of interpretation of civil and relegious ordinances Each case is examined and determined upon general principles and from the cases decided, the principles may be collected. A well ordered arrangement of them would constitute the philosophy of the luco, and this is, in truth, what has been attempted in the Mimansa (Colebrook's miscellaneous Essays Vol. I. P. 342)

जान लेना भी आवश्यक है कि वह वेद के सम्बन्ध मे क्या कहती है। मीमांसाकार ने पहले ही सूत्र मे कहा है कि अब धर्म को जानने की जिज्ञासा करते है। दूसरे सूत्र मे कहा है कि विधि प्रतिपाद्य अर्थ को धर्म कहते है।

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्म (१।१।२)

प्रवर्तक वचन का नाम, जिसके सुनने से प्रेरणा पाई जावे, चोदना है। चोदना, नौदना, प्रेरणा, वेदाज्ञा, उपदेश और विधि ये सब समानार्थक शब्द है। अर्थनीय का नाम यहाँ अर्थ है। जिसकी इच्छा की जावे वही अर्थ अथवा सुख है। भाव यह है कि धर्म वह है जो विधि प्रतिपाद्य और सुख का साधन हो। तीसरे सूत्र मे

तस्य निमित्त परीष्टिः (१।१।३)

कहा गया है कि उस (धर्म) के निमित्त का (परीष्टिः) परीक्षा की जाती है। चौथे सूत्र मे प्रकट किया गया है कि प्रत्यक्ष केवल इन्द्रियो का विषय होने से धर्म के जानने मे प्रमाण नहीं हो सकता। इस प्रत्यक्ष मे अनुमान-प्रमाण को भी सम्मिलित समझना चाहिये। फिर धर्म के जानने का साधन क्या होना चाहिये ? इस प्रश्न का उत्तर पॉचवे सूत्र मे इस प्रकार दिया है :—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दास्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकं श्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं वादरायण स्यान पेक्षत्वात्। (१।१।५)"

अर्थात् शब्द = वेद (के प्रत्येक पद) का, अर्थ के साथ स्वाभाविक = नित्य सम्बन्ध है (इसलिये) उस (धर्म) के ज्ञान का (वह साधन) है। (ईश्वर की ओर से उसका) उपदेश हुआ है और (प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से जो) उपलब्ध नहीं होता (उसमें उसका) व्यत्तिरेक = व्यभचार नहीं है। वादरायण के मन में वह (वेद वाक्य) प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से स्वतः प्रमाण है।

इस सूत्र में वर्णित है कि (१) शब्द का अर्थ से नित्य सम्बन्ध है, (२) वह ईश्वर का उपदेश है, (३) प्रत्यक्ष आदि से जिस धर्म की

उपलब्धी नहीं होती वह वेदों से उपलब्ध होता है तथा (४) वादरायण ने इन्हें (वेदों को) स्वतः प्रमाण माना है। इसलिये मीमांसा की दृष्टि मे भी वेद स्वतः प्रमाण हैं।

६—उत्तरमीमांसा (वेदांत)—

वेदान्त दर्शन के प्रारम्भ के तीसरे सूत्र "शास्त्र योनित्वात्" में वर्णन किया गया है कि (ऋग्वेदादि) शास्त्र की योनि (रचना का कारण) होने से (भी वह ब्रह्म है) यहाँ ब्रह्म की सत्ता प्रकट करने के लिए कहा गया है कि उसकी सत्ता इसलिए भी स्वीकार करने योग्य है कि वह वेदोत्पादक है और जगत के प्रारम्भ मे वेद ऋषियों को दिया करता है। ऐसी ही शिक्षा वेदान्त के अन्य अनेक सूत्रों मे मिलती है।

अस्तु; छओ दर्शन जो वेदों के उपाङ्ग हैं वेद को एक स्वर से प्रमाण मान रहे हैं। वैदिक साहित्य का उपर्युक्त विवरण देने के बाद हम थोड़े से शब्द तर्क और श्रद्धा के सम्बन्ध मे यहाँ लिख देना चाहते हैं, जिससे समझ लिया जावे कि किस प्रकार ये तर्क प्रधान दर्शन वेदों के उपाङ्ग हैं।

तर्क और श्रद्धा

तर्क के सम्बन्ध में अनेक निन्दा परक वाक्य संस्कृत साहित्य में मिलते है। महाभारत मे एक जगह कहा गया है:—चुगलखोर और तर्क शास्त्र से जले हुये पुरुष को, धर्म की प्राप्ति नहीं हुआ करती।*

(२) वाल्मीकि रामायण मे एक जगह कहा गया है:—"मुख्य धर्मशास्त्र के होते हुये दुर्बुद्धि लोग तर्क विद्या को प्राप्त होकर व्यर्थ की बातें करते रहते हैं।†

* न तर्कशास्त्र दग्धाय तथैव पिशुनाय च ॥ (महाभारत शान्तिपर्व अ० २४६)

† धर्म शास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः। बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ (वाल्मीकि रामायण अयोध्याकाण्ड सर्ग १००)

(३) फिर एक जगह महाभारत मे लिखा हुआ मिलता है:—नास्तिक, सब बातों में शंका करने वाले, वेद-निन्दक, मूर्ख होते हुये अपने को पंडित माननेवाले गीदड़ की योनि को प्राप्त हुआ करते हैं।*

(४) फिर एक जगह मनु ने लिखा है कि जो द्विज तर्क का आश्रय लेकर वेद का अपमान करता है, वह नास्तिक और वेद-निन्दक है, उसे साधुजन समाज से निकाल देवे।†

(५) सब कामों मे गौतम-प्रणीत तर्क शास्त्र का आश्रय लेकर संदेह करने वाले, गीदड़ की योनि को प्राप्त होते है।‡

(६) एक पुराण में गौतम मुनिजी की भी खबर ली गई है। लिखा है कि गौतम मुनि भी अपने तर्क से यत्र तत्र शास्त्रों का खंडन करता हुआ, मुनियों के शाप से गीदड़ की योनि को प्राप्त होता है।÷

इन वाक्यों में तर्क की जी खोल कर निन्दा की गई है। परन्तु वास्तविक बात यह है कि न तर्क बुरी चीज है न श्रद्धा। जब मनुष्य तर्क को छोड़ कर केवल श्रद्धा का आश्रय लेता है तो अन्ध विश्वासी बन जाता है। इसी प्रकार जब श्रद्धा को छोड़ कर केवल तर्क का आश्रय लेता है तो कुतर्की बन जाता है। इसलिये आवश्यक है कि दोनों (तर्क और श्रद्धा) का उपयोग किया जावे; परन्तु दोनो की सीमा समझ ली जावे और दोनों को अपनी-अपनी सीमा मे रक्खा जावे।

---

* नास्तिकः सर्व शकी च मूर्खः पण्डित मानिकः। तस्येयं फल निर्वृत्तिः शृगालत्वं मम द्विज॥ (महा० शान्ति० अध्याय १८०)

† योऽवमन्येत ते मूले हेतु शास्त्राश्रयम् द्विजः। स साधुभिर्वहिष्कार्य्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥ (मनु० २।११)

‡ गौतम प्रोक्त शास्त्र निरताः सर्व एव हि। शार्गाली योनिमापन्नाः सन्दिग्धा सर्व कर्म सु॥ (गान्धर्वतंत्र)

÷ गौतमः स्वेन तर्केण खण्डयन् यत्र तत्र हि। शप्तोऽथ मुनिभिस्तत्र शार्गाली योनिमृच्छति॥ (स्कन्दपुराण, कालिका खड, अ० १७)

तर्क और श्रद्धा की सीमा

याज्ञवल्क्य ने अपनी विदुषी स्त्री मैत्रेयी को, शिक्षा देते हुये, बतलाया था कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यास्तिव्य:।" अर्थात् आत्मा की खोज करने वाले को तीन काम करने होते हैं:—

(१) श्रवण और दर्शन–अर्थात् इन्द्रियों से काम लेकर दृष्ट और श्रुत जगत का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे, मिथ्या ज्ञानी न रहे।

(२) मनन—अर्थात् तर्क से काम लेकर, इन्द्रियों की पहुँच से परे जगत का चिन्तन करे और उसका भी यथासम्भव यथार्थ ज्ञान प्राप्त करे।

(३) निदिध्यासन—सं० १ और २ के द्वारा प्राप्त ज्ञान को, आत्मा द्वारा धारण कर लेना—इसी का नाम श्रद्धा अथवा विश्वास है। इन्द्रियो के काम की सीमा इन्द्रियानुभूत जगत तक रहती है। तर्क की सीमा मन्तव्य जगत तक सीमित होती है उसके बाद निदिध्यासन (Intuition Intuitional perception) अनुभव कर लेना =स्वाद चख लेना, आत्मा का काम बाकी रह जाता है। तर्क का काम, स्पष्ट है कि मनन करने तक सीमित है, जब उसे आत्मा के काम की सीमा मे प्रविष्ट करते हैं तब वह तर्क न रहकर कुतर्क हो जाता है और मनुष्य को श्रद्धा विश्वास आदि निद्धिध्यासन के कामों से वचित कर देता है। यह बात और भी, अन्तःकरणों के काम पर दृष्टि डालने से, साफ हो जाती है।

अन्तःकरणों का कर्म

इच्छाशक्ति सहस्रदल में, मस्तिष्क के ठीक ऊपर रहती है और वहीं से काम करती है। शक्ति के स्थान मे नीचे, परन्तु मस्तिष्क में ऊपर ही 'मेधावी बुद्धि' है। उससे नीचे मस्तिष्क के मध्य मे 'तार्किक

बुद्धि' रहती है। मस्तिष्क का निचला भाग मन से सम्बन्धित सन्देश-तन्तुओं का स्थान है।

वृत्त में हृदय से ठीक ऊपर 'मन' (इन्द्रियों का नियन्ता) का स्थान है।

हृदय और नाभि के बीच मे 'चित्त' रहता है। इसके नीचे सूक्ष्म प्राण रहते है। इच्छाशक्ति इन अंतःकरणों के द्वारा काम करती है। बुद्धि के द्वारा ज्ञान और (तर्कपूर्ण) विचार, मन के द्वारा इन्द्रिय व्यापार, चित्त के द्वारा भावुकता (Emotion) और प्राण के द्वारा भोग के लिये काम करती रहती है। जब प्रत्येक अन्तःकरण का काम ठीक चलता है तब इच्छाशक्ति के काम मे बाधा न पड़ने से शक्ति का विकास और वृद्धि होती है।

इन्हें समझना चाहिये कि ये सब यन्त्री आत्मा के यन्त्र हैं, और इच्छाशक्ति विद्युत् अथवा गति शक्ति (Electricity or Motor Power) है।

इस काम में बाधा किस प्रकार होती है ?

(१) जब सूक्ष्म प्राण, इन्द्रिय व्यापार तथा भाव और विचार में दखल देता है, तब मनुष्य अनीश—इच्छाओ का दास हो जाता है।

(२) जब चित्त, इन्द्रिय व्यापार और विचार में दखल देता है, तब भावुकता बढ़ कर मन और बुद्धि दोनो को निकम्मा बना देती है।

(३) जब मन, बुद्धि के काम में दखल देता है, तब मनुष्य प्राप्त इन्द्रिय ज्ञान पर विचार नहीं कर सकता और इन्द्रिय ज्ञान द्वारा ही, चाहे वह कितना ही भ्रमपूर्ण क्यो न हो सबको जज करता है।

(४) इसी प्रकार यदि तर्क, कल्पना और स्मृति, मेधावी बुद्धि के काम में दखल देते है, तब मनुष्य कुतर्की होकर विज्ञान, श्रद्धा और विश्वास से वंचित हो जाता है और अनुमान तथा सम्भावना के चक्र मे घूमा करता है।

(५) जब बुद्धि, शक्ति के काम मे दखल देती है, तब मनुष्य उस शक्ति से वंचित हो जाता है जो आत्मा का परमात्मा से मेल कराती है।

(६) इच्छा शक्ति के काम मे एक और विघ्न पड़ा करता है और वह यह है कि अल्पज्ञता के कारण मनुष्य के भीतर, सन्देह और असफलता आदि के स्वभाव बनते रहते हैं। यह शक्ति-विकास के काम मे बड़े बाधक होते है। इसलिये भरसक पूरा यत्न करना चाहिये कि इस प्रकार के स्वभाव न बनने पावे तथा यह भी कि उपर्युक्त मन बुद्धि आदि सब अपनी-अपनी सीमा मे काम करे, अन्यों के काम मे दखल न देवे, तभी मनुष्य तर्क और श्रद्धा दोनो से लाभ उठा सकता है।

———

तीसरा अध्याय

वेद का स्वाध्याय

पहले दो अध्यायों में वेद के प्रादुर्भूत होने तथा स्वतः प्रमाण के रूप में प्रतिष्ठित होने का उल्लेख किया गया है, जिससे वेद के सम्बन्ध मे अधिक से अधिक ज्ञातव्य बातों का ज्ञान पाठकों को हो सके। इस अध्याय मे जो ग्रन्थ का अन्तिम अध्याय है, यत्न किया जायगा कि कुछ चुने हुये सूक्त और कुछेक उपयोगी फुटकर मंत्रों का संग्रह स्वाध्यायशील जनता के सम्मुख रक्खा जावे, जिससे उन्हें वेद के न केवल वाह्य स्वरूप का ज्ञान हो अपितु उनका कुछ भीतरी ज्ञान भी हो सके। इन सूक्तो और मन्त्रों के चुनने मे इस बात का ध्यान रखा गया है कि ये दैनिक स्वाध्याय का काम भी दे सकें।

ईश्वर को नमस्कार

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥

(अथर्ववेद १०।७।३२)

अर्थात् भूमि जिसके पादस्थानी और अन्तरिक्ष उदर (के समान) है और द्यु को जिसने मस्तक (समान) रचा है उस सबसे बड़े ब्रह्म को नमस्कार है।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्नि यश्चक्रे आस्ये तस्मै ज्येष्ठ य ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्व० १०।७।३३)

अर्थात् (पुनर्णवः) वार वार (सृष्टि के आदि मे) नवीन होने वाला (अर्थात् नये सिरे से उत्पन्न होने वाला) सूर्य और चन्द्र जिसके नेत्र (समान) हैं और जिसने अग्नि को मुखस्थानी रचा है, उस सबसे बड़े ब्रह्म को नमस्कार है।

यस्य वातः प्राणापानौचक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्ववेद १०।७।३४)

वायु जिसके प्राण और अपान (के समान) और (अङ्गिरसः) प्रकाश करने वाली किरणे नेत्र (समान) हुईं और दिशाओं को जिसने (प्रज्ञानीः) व्यवहार जताने वाली बनाया, उस सबसे बड़े ब्रह्म को नमस्कार है।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

(अथर्ववेद ।१०।७।३५)

जो भूत और भविष्यत सबका अधिष्ठाता है जिसका सुख ही केवल (रूप) है उस महान् ब्रह्म के लिये नमस्कार है।

ब्रह्माण्ड का आधार ईश्वर है

स्कम्भे नेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः ।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणन्निमिषच्चयत् ॥

(अथर्ववेद १०।८।२)

यह द्युलोक और भूमि (स्कम्भेन विष्टभिते) सर्वाधार (परमात्मा) के धारण करने से ठहरे है। यह सब जो प्राण वाला और गतिमान है (स्कम्भे) सर्वाधार (ईश्वर के आश्रय ही) से (आत्मन्वत्) सत्तावान है।

ईश्वर प्रार्थना

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रन्तन्न आसुव ॥

(यजु० ३०।३)

हे जगतोदपादक, दिव्यगुण युक्त (परमेश्वर) हमारे समस्त दुर्गुणों को दूर करे और जो शुभ गुण हैं, उन्हें दूर न करें।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥

(यजु० १३।४)

(जगतोत्पत्ती से) पहले, उत्पन्न भूतो (जगत) का एक स्वामी (ईश्वर) मौजूद था। वह इन (द्याम्) प्रकाशक और (पृथिवीम्) प्रकाश रहित (लोको) का आधार है। (ऐसे) कस्मै = सुख स्वरूप देव के लिये हम हवि प्रदान करे अर्थात् उसकी उपासना करे।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥

(यजु० ५५।१३)

जो आत्म (ज्ञान) दाता, बल दाता, जिसकी सब उपासना करते है और जिसकी प्रशिषं = आज्ञा को (मानते है), जिसकी छाया = आश्रय अमृत और जिसकी (दूरी) मौत है, (ऐसे) सुखमय देव की हम उपासना करे।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतोबभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥
(यजु० २३।३)

जो प्राण धारण और पलक मारने वाले जगत का, महित्वा = (अपने) बड़प्पन से (पः + एक + इत्) जो एक ही राजा है और जो, इस (जगत) के दो पॉव और चार पॉव वाले (प्राणियो) को (ईशे) नियम मे रखता है। (ऐसे) आनन्दमय (परमात्मा) को हम उपासना करे।

येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढ़ा येनस्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम् ॥
(यजु० ३२।६)

जिससे प्रकाश वाले लोक (उग्रा) तेजस्वी और पृथिवी = अप्रकाश वाले लोक दृढ़ हैं (येन + स्वः + स्तभितम् जिसने सुख को धारण किया है (येन + नाक) जिससे आनन्द (प्राप्त होता है) और जिसने अन्तरिक्ष मे लोको की रचना की है (ऐसे) आनन्दघन (ईश्वर) की हम सब उपासना करे।

प्रजापते नत्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिताबभूव ।
यत्कामास्ते जुहु मस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(ऋग्वेद १०।१२१।१०)

हे प्रजापते! (एतानि + ता + विश्वा जातनि) इन सब उत्पन्न (पदार्थो) का तुझसे भिन्न कोई (न + परि + बभूव) स्वामी नहीं। (यत् + कामाः + ते + जुहुमः) जिन इच्छाओं को करते हुए हम तेरा यज्ञ करते हैं (तत् + तः + अस्तु) वे हमे प्राप्त होवे और हम सब धनो के स्वामी हो।

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यत्र देवा अमृत मा नशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥
(यजु० ३२।१०)

वह (परमात्मा) हमारा बन्धु, उत्पन्न करने हारा है और वही (सबका) विधान करने वाला है और समस्त भुवनों=लोकों और धामों को (रचयिता होने से) जानता है। उसी तीसरे धाम (परमात्मा) मे (अमृतम्+आनशानाः) मोक्ष को प्राप्त होकर (देवाः) विद्वान लोग (अध्यैरयन्त) स्वेच्छापूर्वक विचरते है।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥

(यजु० ४०।१६)

हे प्रकाश स्वरूप ईश्वर ! ऐश्वर्य के मार्ग से हमे ले चलें। हमारे समस्त कर्मों के, हे देव ! आप जानने वाले है। हमे उलटे रास्ते पर चलने रूप पाप से बचावे। आपको हम बारबार नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मविद्या

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥

(यजुर्वेद ४०।१)

यह सब जो कुछ पृथिवी पर जगत=चराचर वस्तु है ईश्वर से आच्छादन करने योग्य अर्थात् आच्छादित है। उस (ईश्वर) के दिये हुये (पदार्थों) से भोग कर किसी के भी धन का लालच मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुर्वेद ४०।२)

यहाँ (निष्काम) कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार तुझ मनुष्य मे कर्म नहीं लिप्त होता (अर्थात् मनुष्य सकाम कर्म के बन्धन मे नहीं आता) इससे भिन्न (पूर्ण आयु उपलब्ध करने का) और कोई मार्ग नहीं है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति येकेचात्महनो जनाः ॥

(यजुर्वेद ४०।३)

जो कोई आत्मा के हनन करने वाले (आत्मा के विरुद्ध आचरण करनेवाले) मनुष्य हैं, वे मर कर अन्धकार से आच्छादित हुये, प्रकाश रहित नाम वाले जो लोक=योनियाँ है, उनको प्राप्त होते हैं ।

अनेजदेकं मनसोजवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्व मर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

(यजुर्वेद ४०।४)

(वह ब्रह्म) अचल, एक, मन से अधिक वेग वाला (क्योंकि सब जगह) पहले से पहुँचा हुआ है । उस ब्रह्म को इन्द्रियाँ नहीं प्राप्त कर सकतीं । वह अचल होने पर भी, दौड़ते हुये अन्यों को उल्लंघन किये हुये है । उसके भीतर वायु जलो को (मेघादि के रूप मे) धारण करता है ।

तदेजति तन्नेजतितद्दूरे तदन्ति के ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तेदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥

(यजुर्वेद ४०।५)

वह (ब्रह्म—जगत उत्पन्न करने के लिये, गति शून्य प्रकृति को) गति देता है परन्तु स्वयं गति मे नहीं आता । वह दूर है, वह समीप भी है । वह इस सब (जगत) के अन्दर और बाहर भी है ।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

(यजुर्वेद ४०।६)

जो कोई समस्त चराचर जगत को परमेश्वर ही मे और सब जगत मे परमेश्वर को देखता है इससे वह निन्दित नहीं होता ।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(यजुर्वेद ४०।७)

जिस अवस्था मे ज्ञानी पुरुष की दृष्टि मे समस्त चराचर जगत परमात्मा ही हो जाता है। उस अवस्था मे एकत्व को देखने वाले (प्रेष्य के प्रेम मे अपनी सुध भूल जाने वाले) को, कहाँ मोह और कहाँ शोक ?

स पर्य्यगाच्छुक्र मकायमव्रण मस्नाविर ँ शुद्धम-
पाप विद्धम् । कविर्मनीषीपरिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽ
र्थान्व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

(यजु० ४०।८)

वह (ईश्वर) सर्वत्र व्यापक है, जगदुत्पादक, शरीर रहित, शारीरिक विकार रहित, नाड़ी और नस के वन्धन से भी रहित, पवित्र, पाप से रहित, सूक्ष्मदर्शी, मननशील, सर्वोपरि वर्तमान, स्वयंसिद्ध, अनादि प्रजा (जीव) के लिये ठीक-ठीक कर्मफल का विधान करता है।

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते
ततोभूय इवते तमो य उ सम्भूत्या ँ रताः ॥

(यजुर्वेद ४०।९)

जो कारण प्रकृति=कारण शरीर को (अन्य शरीरो को उपेक्षा करके) सेवन करते हैं, वे गहरे अन्धकार मे प्रवेश करते है (य+उ) और जो कार्य प्रकृति=सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर मे (कारण शरीर की उपेक्षा करके) रमते हैं, वे उससे भी अधिक अन्धकार को प्राप्त होते है।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुमधीराणां येनस्तद्विचचाक्षिरे ॥

(यजु० ४०।१०)

कार्य्य प्रकृति=सूक्ष्म+स्थूल शरीर और ही फल कहते हैं और कारण प्रकृति=कारण शरीर से और ही फल कहते हैं। इस प्रकार धीर पुरुषों (के वचन) हम सुनते हैं जो हमारे लिए उन (वचनों) का उपदेश कर गये हैं।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते।
(यजु० ४०।११)

जो कार्यरूप प्रकृति=स्थूल+सूक्ष्म शरीर और नाशरहित (कारण प्रकृति)=कारण शरीर, उन दोनों को साथ-साथ जानता (अर्थात् प्रयोग में लाता है) वह कारण शरीर से मृत्यु को तैर कर, कार्य्य शरीर से अमरता को प्राप्त होता है।

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततोभूयश्व तेतमो य उ विद्यायाꣳरताः॥
(यजु० ४०।१२)

जो अविद्या=कर्म का (ज्ञान की उपेक्षा करके) सेवन करते हैं, गहरे अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो (कर्म की उपेक्षा करके, केवल) ज्ञान में रमते है, वे उससे भी अधिक अन्धकार को (प्राप्त होते हैं)।

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽन्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुमधीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे॥
(यजु० ४०।१३)

ज्ञान का और ही फल कहते हैं और कर्म का और ही फल कहते हैं। ऐसा हम धीर पुरुषों के (वचन) सुनते हैं जो हमारे लिये उनका उपदेश करते हैं।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
(यजु० ४०।१४)

जो ज्ञान और कर्म इन दोनो को साथ-साथ जानता (अर्थात् प्रयोग मे लाता) है, वह कर्म से मृत्यु को तैर कर ज्ञान से अमरता को प्राप्त होता है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।
ओम् क्रतो स्मर क्लिवे स्मर कृतꣳस्मर ॥

(यजु० ४०।१५)

(शरीरों मे) आने जाने वाला अनिल=जीव अमर है (परन्तु) यह शरीर भस्म पर्यन्त है (इसलिये अन्त समय में) हे (क्रतः) जीव ओम् का स्मरण कर, निर्बलता दूर करने के लिए स्मरण कर और अपने किये हुए का स्मरण कर।

अग्ने नय सुपथाराये अस्मान् विश्वानि देववयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहराणमेनो भूयिष्ठान्तेनम उक्ति विधेम् ॥

(यजु० ४०।१६)

हे प्रकाश स्वरूप (ईश्वर) ऐश्वर्य्य प्राप्ति के लिये अच्छे मार्ग से (हमे) ले चलें। हे देव ! आप हमारे सभी कर्मों को जानने वाले हैं। हमको उलटे मार्ग पर चलने रूप पाप से बचाइये, (इसीलिये) आपको हम बारबार नमस्कार करते है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापि हितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् ॥ ओ३म् खं ब्रह्म ॥

(यजुर्वेद ४०।१७)

सत्य का मुख सुवर्ण=चमकीले पात्र से ढका हुआ है। (इस ढकने के हट जाने से मैं सत्यरूपी ब्रह्म का दर्शन करके और प्रेम मे मग्न होकर अपनी सुध बुध भूल जाने से, वही हर जगह मुझे दिखलाई देने लगेगा और प्रत्येक वस्तु उसीके रूप मे प्रकट होने लगेगी और उस समय मुझे भान होने लगेगा कि) वह "ओम् खं ब्रह्म"=सर्व व्यापक ईश्वर, जो उस आदित्य मे परिपूर्ण है, वह मैं हूँ।

नोट—प्रेम और भक्ति के बाहुल्य से प्रेमी और प्रेष्य में अभेद-सा प्रतीत होने लगता है। इसीका संकेत इस मंत्र में किया गया है।

शिव संकल्प के मंत्र

यज्जाग्रतो दूर मुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥
(यजुर्वेद ३४।१)

जो जाग्रत अवस्था में दूर-दूर भागता है और स्वप्नावस्था मे भी वैसा ही भागता है वह दूर जाने वाला, ज्योतियों का ज्योति = इन्द्रियों को प्रकाश देने वाला, एक मात्र (दैवम्) दिव्य शक्ति युक्त मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(यजु० ३४।२)

जिस (मन) से (अपसः) पुरुषार्थी, (धीराः+मनीषिणः) धीर और मननशील (पुरुष) यज्ञे = सत्कर्म और (विदथेषु) युद्धादि में भी कर्म करते हैं जो कि प्रजाओं मे (अपूर्व+यक्षम्) अपूर्व पूजनीय है, वह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

यत्प्रज्ञानमुतचेतोधृतिश्चयज्ज्योतिरंतरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥
(यजुर्वेद ३४।३)

जो (मन) ज्ञान, (चेतः) चिंतन शक्ति और धैर्य से युक्त है और जो प्रजाओं मे अमृत और ज्योति है और जिसके बिना, कोई भी काम नहीं किया जाता, वह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीत ममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४।४)

(येन+अमृतेन) जिस अमर (मन) से वह भूत, (भुवनम्) वर्तमान और भविष्यत, सब कुछ परिगृहीत है। जिस (मन) से, सात ऋत्विजो द्वारा होने वाला यज्ञ (तायते) फैलाया जाता है, वह मेरा मन अच्छे सङ्कल्प वाला हो।

यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन्प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४।५)

जिस (मन) में ऋचायें, और जिसमे साम और यजु, रथनाभि में अरों के समान प्रतिष्ठित हैं और जिसमें सब प्रजाओं का चित्त ओत-प्रोत है, वह मेरा मन अच्छे सङ्कल्प वाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरंजविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

(यजुर्वेद ३४।६)

जिस प्रकार अच्छा सारथी घोड़ों को लगामों से चलाता है, उसी प्रकार जो (मन) मनुष्यो के (इन्द्रिय रूप) वाजिनः=घोड़ों को (चलाता है) और जो हृदय मे प्रतिष्ठित, अजर और जविष्ठं=वेगवान है, वह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

मनावर्तन सूक्त

यत्ते यमंवैवस्वतं मनोजगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।१)

(यन्+ते+मनः) जो तेरा मन (यमम्+वैवस्वतम्) यम और सूर्यलोक को (दूरकम्+जगाम्) दूर चला गया। (तत्+ते) उस तेरे (मन को) क्षयाय=घर (अपने स्थान हृदय) को (जीव से) जीवन प्राप्ति के लिये (इह+आवर्तयामसि) यहाँ वापिस लाता हूँ।

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनोजगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयायजीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।२)

जो तेरा मन (यत्+दिवं+पृथिवीम्) जो प्रकाशक और अप्रकाशक लोक हैं (उनमें) दूर चला गया। (तत्) इसलिये (ते) उसे=तेरे (मन को) अपने स्थान को जीवन धारण करने के लिये यहाँ लौटा कर लाता हूँ।

यत्ते भूमिं चतुर्भृष्टिं मनोजगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।३)

जो तेरा मन भूमि के (भृष्टिम्) शिखर=ऊँचे स्थान को दूर चला गया, इसलिए उसे अपने स्थान को जीवन धारण करने के लिये यहाँ लौटा कर लाता हूँ।

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनोजगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।४)

जो तेरा मन (चतस्रः+प्रदिशः) चारों दिशाओं को दूर चला गया है इसलिये उसे अपने स्थान को, जीवन धारण करने के लिये, यहाँ वापिस लाता हूँ।

यत्ते समुद्रमर्णवं मनोजगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।५)

जो तेरा मन (समुद्रम्+अर्णवम्) समुद्र और अन्तरिक्ष को, दूर चला गया है, इसलिये उसे अपने स्थान को जीवन प्राप्ति के लिये लौटाकर लाता हूँ।

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनोजगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०.५८।६)

जो तेरा मन (प्रवतः+मरीचीः) फैली हुई किरणों में दूर चला गया है, इसलिए उसे अपने स्थान को, जीवन धारण करने के लिये, लौटाकर यहाँ लाता हूँ।

यत्ते अपोयदोषधीर्मनोजगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।७)

जो तेरा मन (यत्+अपः+औषधीः) जो जल और औषधियाँ है (उनमे) दूर चला गया है, इसलिये उसे अपने स्थान को जीवन प्राप्ति के लिये लौटाता हूँ।

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनोजगाम दूरकम् ।
तत् आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।८)

जो तेरा मन (यत्+सूर्यम्+उषसम्) जो सूर्य और उषा है, (उनमें) दूर चला गया है इसलिये उसे अपने स्थान को, जीवन प्राप्ति के लिये, लौटा कर लाता हूँ।

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनोजगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।९)

जो तेरा मन (पर्वतान्+वहतः) महान् पर्वतों की ओर चला गया है। इसलिये उसे अपने स्थान को, जीवन धारण करने के लिये यहाँ वापिस लाता हूँ।

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनोजगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋ० १०।५८।१०)

जो तेरा मन (इदम्+विश्वम्+जगत) इस सब जगत मे दूर चला गया है, इसलिये उसे, अपने स्थान को जीवन धारण करने के लिये लौटा कर लाता हूँ ।

यत्ते पराः परावतो मनोजगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋग्वेद १०।५८।११)

जो तेरा मन (परावतः+पराः) फैले हुये अगले (पिछले) दिनो मे दूर चला गया है, इसलिये उसे अपने स्थान को, जीवन प्राप्ति के लिये यहाँ लौटाता हूँ ।

यत्ते भूतं च भव्यं च मनोजगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥

(ऋग्वेद १०।५८।१२)

जो तेरा मन भूत और भविष्यत में दूर चला गया है इसलिये उसे अपने स्थान को, जीवन धारण करने के लिये लौटा कर लाता हूँ ।

स्वराज्य

यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय ।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥

(अथर्व १०।७।३१)

(अजः) पुरुषार्थ करनेवाला (प्रथम+यत्+संबभूव) पहले जब (संगठित रूप में) प्रकट होता है (तत्+सः+ह) तब वही (स्वराज्यम)

स्वराज्य को (इयाय) प्राप्त करता है। (यस्मात्+अन्यत्+परं+भूतं+न+अस्ति) जिससे दूसरा कोई श्रेष्ठ पदार्थ नहीं है।

स्वराज्य सूक्त

इतथा हि सोम इन्मदेब्रह्माचकार वर्धनम् ।
शविष्टवज्रिन्नोजसा पृथिव्या निः शशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋग्वेद १।८०।१)

हे (शविष्ट+वज्रिन्) बलवान वज्रधारी ! (इत्था) इस प्रकार (मदे+सोमे+हि) सुखदायक शान्ति के लिये ही, (ब्रह्मा+इत+वर्धनम्+चकार) ब्रह्मा=ज्ञानी पुरुष निःसन्देह संवर्धन करता है। (ओजसा) शक्ति से (प्रथिव्याः+अहिम्) देश के शत्रु को (निः शश) दंड दे और (स्वराज्य+अनु+अर्चन्) स्वराज्य का पुजारी बन।

सत्वा मदद्वृषामदः सोमः श्येनाभृतः सुतः ।
येनावृत्रं निरद्भ्यो जघन्थवज्रिन्नोजसार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋग्वेद १।८०।२)

हे (वज्रिन) वज्रधारी (येन+अद्भ्यः) जिस जलीय शक्ति से (वृत्रिम्) शत्रु को (निर्जघन्थ) छिन्न भिन्न करता है (सः) वह (वृषा+मदः) हर्ष की वर्षा करने वाली, (सोमः) शान्तिप्रद, (श्येन+सुतः+आभृतः) बलवान की तरह प्रजा की रक्षा करने वाली (शक्ति) (त्वा) तुझको (अमदत्) आह्लादित करे।(उसी) (ओजसा) शक्ति से (स्वराज्यम्+अनु+अर्चन्) स्वराज्य का पुजारी बन।

प्रेह्यभीहिधृष्णुहि न ते वज्रो नियंसते ।
इन्द्र वृम्णं हिते शवोहनोवृत्रंजया अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ।

(ऋग्वेद १।८०।३)

हे (इन्द्र) सेनाध्यक्ष ! (हि+नृमणम्) निश्चय करके धन को (प्रेहि) बढ़ा, (ते+शवः) अपने बल की (अभीहि) सब ओर से वृद्धि कर और (धृष्णु हि) ढीठ=साहसी बन (जिससे) (ते+जयाः) तरी झंडी (Flag) (न) न (उखड़े)। (वज्रः) वज्र से (वृत्रम्) शत्रु को (हनः) मार कर (अपः) यज्ञ=शासन मर्यादा को (निर्यंसते) नियम में रख और (अनु+अर्चन्+स्वराज्यम्) स्वराज्य का पुजारी बन।

निरिन्द्र भूम्या अधिवृत्रं जघंथ निर्दिवः।

सृजा मरुत्वती रव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋ० १।८०।४)

हे (इन्द्र) सेनाध्यक्ष ! (जैसे सूर्य) वृत्रम्=मेघको (छिन्न भिन्न करके) भूम्याः=पृथिवी के (अधि) ऊपर, (जीवधन्याः) जीव को धन=ऐश्वर्य प्राप्त कराने तथा (मरुत्त्वती+अव) प्रजा सम्बन्धी रक्षा करनेवाले (इमाः+अपः) इन जलों को (निः+जघन्थ) पहुँचाता और (निः)=नित्य (दिवः) प्रकाश को (सृजा=सृजति) प्रकट करता है (इसका अनुकरण करते हुए) (अनु+अर्चन् + स्वराज्यम्) तू स्वराज्य का पुजारी बन।

इन्द्रोवृत्रस्य दोधतः सानुं वज्रेण हिळितः।

अभिक्रम्याव जिघ्नतेऽपः सर्मायचोदयन्नर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋ० १।८०।५)

(इन्द्र) सूर्य (वज्रेण) किरणों से (वृत्रस्य) मेघ के (सानुम्) शिखर और (अपः) जलों को (अभिक्रम्य) आक्रमण करके (छिन्न भिन्न कर देता है, इसी प्रकार हे सेनाध्यक्ष !) जिघ्नते=हनन करने (की इच्छा रखने) वाले, (दोधतः) क्रुद्ध, (चोदयन्) (युद्ध की) प्रेरणा करने वाले, (हिळितः) अपमानित (सरमाय) प्राप्त हुये (शत्रु से) (अव) रक्षा करता हुआ (अनु+अर्चन+स्वराज्यम्) स्वराज्य का पुजारी बना रह।

अधि सानौ जिघ्नते वज्रेण शत पर्वणा।
मन्दान इन्द्रो अन्धसः सखिभ्यो गातुमिच्छत्यर्चन्ननु स्वराज्यम्॥
(ऋ० १।८०।६)

हे (इन्द्र) इन्द्र! (शतपर्वणा) अपार शक्तियुक्त (वज्रेण) वज्र से (शत्रु सेना के) सानावधि=(सानौ+अधि)=अवयवों पर (प्रहार करता हुआ, शत्रु को) (निर्जिघ्नते) मारता हुआ (गातुम्+इच्छति) अच्छी वाणी बोलने और (सखिभ्यः+मन्दानः) मित्र मंडल के लिये आनन्द बढ़ाते हुये (अनु+अर्चन्+स्वराज्यम्) स्वराज्य का पुजारी और (अन्धसः) अन्न का (दाता) बन।

इन्द्रतुभ्यमिदद्रिवोऽनुत्तं वज्रिन्वीर्य्यम्।
यद्धत्यं मायिनं मृगं तमु त्वं माययावधीरर्चन्ननु स्वराज्यम्॥
(ऋ० १।८०।७)

हे (अद्रिवः) पर्वत शिखर (वत् उच्च) वज्रिन्=वज्रधारी इन्द्र! (दिवः) सूर्य (के समान), (अनुत्तम्) श्रेष्ठ (वीर्य्यम्) शक्तिशाली है, (यत्+ह+त्यम्) जो उस (मायिनम्) छली (मृगम्) मृग (रूपी शत्रु) को (तुभ्य+इत+त्वम्)=जो तेरे लिये प्राप्त है, तू (मायया) बुद्धि से (तम+उ) उसे (अवधीः) हनन करके (अनु+अर्चन्+स्वराज्यम्) स्वराज्य का पुजारी बन।

वि ते वज्रासोऽअस्थिरन्नवतिं नाव्या३अनु।
महत्त इन्द्र वीर्यं बाह्वोस्तेबलं हितमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥
(ऋग्वेद १।८०।८)

हे इन्द्र! (ते+वज्रासः) तेरी दृढ़ सेना, (नवतिम्) नव्वे=अनेक (नाव्याः) नौकाओं को (अनु+वि+अस्थिरन्) अनुकूलता के साथ व्यवस्थित रखती है (ते+बाह्वोः) तेरी भुजाओं में (महत्+वीर्यम्) बड़ा पराक्रम और (ते+बलम्+हितम्) तुझमें बल स्थित है। (इसलिये) (अनु+अर्चन्+स्वराज्यम्) तू स्वराज्य का पुजारी बन।

सहस्रं साकमर्चतपरिष्टोभत विंशतिः ।
शतैनमन्वनोनवुरिन्द्राय ब्रह्मोद्यतमर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
(ऋग्वेद १।८०।९)

देशवासियो ! (सहस्रम्+साकम्+अर्चत) हजारों मिल कर सत्कार करो, (विंशतिः+परि+स्तोभत) बीसिओं (मिलकर) सब ओर से नियन्त्रित रक्खो, (शता+अनु+अनोनवुः) सैकड़ों अनुकूलता के साथ स्तुति करो (उसे) (इन्द्राय) इन्द्र=सभाध्यक्ष के लिये (जो) (ब्रह्म+उद्यतम्) सत्य के लिये उद्यत है (तथा) (अनु+अर्चन्+स्वराज्यम्) स्वराज्य के पुजारी बनो ।

इन्द्रो वृत्रस्य तविषीं निरहन्त्सहसा सहः ।
महत्तदस्य पौंस्यं वृत्रं जघन्वां असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
(ऋग्वेद १।८०।१०)

इन्द्र=सेनाध्यक्ष (वृत्रस्य) शत्रु के (तविषीम्) बल को (सह) सहन करता हुआ (सहसा) (अपने) बल से (उसे) (निरहन्=निः+अहन्) निरन्तर हनन करता है (अस्य+महत्+पौंस्यम+असृजत) इस (इन्द्र) का (यह) महान पुरुषार्थ प्रकट है। (देशवासियो ! तुम भी इसलिये) (वृत्रम्) शत्रु को (जघन्वान्) मारते हुये (अनु+अर्चन्+स्वराज्यम्) स्वराज्य के पुजारी बनो ।

इमे चित्तव मन्यवेवेपेतेभियसा मही ।
यदिन्द्रवज्रिन्नोजसा वृत्रं मरुत्वां अवधीरर्चन्ननु स्वराज्यम् ॥
(ऋग्वेद १।८०।११)

हे (वज्रिन+इन्द्र) वज्रधारी सभाध्यक्ष ! (यत्) जिस (तव+ओजसा) तेरे (सेना) बल और (मन्यवे+भियसा) तेजस्विता के भय से (इमेचित्+मही) ये भूमि (वेपेते) काँपती है (वह तू) (मरुत्वान्+वृत्रम्+अवधीः) वायु (की सदृश) मेघरूपी शत्रु को मार कर (अनु+अर्चन्+स्वराज्यम्) स्वराज्य का पुजारी बन ।

न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो विबीभयत् ।
अभ्येनं वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋग्वेद १।८०।१२)

(हे सेनापति !) वृत्रः = बादल (जैसे) इन्द्रम् = सूर्य को (वेपसा) अपने वेग से (न विभीभयत्) नहीं डरा सकता और (तन्यता + न) बादल की गरज भी नहीं (उसे भयभीत कर सकती)। (इसी प्रकार तू निर्भीक हो) एनम् = इस (शत्रु) के लिये (सहस्रभृष्टिः) अनेक पीडक (आयसः) लोहे के (वज्रः) वज्र (अभ्यायत) सब ओर से प्राप्त होकर, (अनु + अर्चन् + स्वराज्यम्) स्वराज्य का पुजारी बन ।

यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः ।
अहिमिन्द्र जिघांसतो दिवितेवद्बधेशवोऽर्चन्ननुस्वराज्यम् ॥

(ऋग्वेद १।८०।१३)

हे (इन्द्र) सभाध्यक्ष ! (यत्) जैसे (दिवि) आकाश मे (सूर्य) अशनिम् = विजुली (रूपी वज्र के प्रहार) से (वृत्रम्) बादल को (बद्बधे) मारता = छिन्न भिन्न करता है (इसी प्रकार) (तव वज्रेण + ते शवः च) अपने वज्र और बल से (अहिम्) शत्रु को (जिघांसतः) मारने की इच्छा करता हुआ तू (अनु + अर्चन् + स्वराज्यम्) स्वराज्य का पुजारी बन ।

अभिष्टने ते अद्रिवोयत्स्था जगच्च रेजते ।
त्वष्टा चित्तवमन्यव इन्द्रवेविज्यते भियार्चन्ननु स्वराज्यम् ॥

(ऋग्वेद १।८०।१४)

हे (अद्रिवः) सूर्यवत् तेजस्वी (इन्द्र) सभाध्यक्ष ! (यत्) जो (ते + अभिष्टने) तेरे इच्छित (उत्तम) व्यवहार से, (स्थाः) स्थावर = अचर (जंगच्च) और जगम = चर जगत [सब] रेजते = नियम मे रहते हैं और [त्वष्टा] छेदक = शत्रु छेदक सेनापति [तप + मन्यवे] तेरी तेजस्विता के लिये [भियाचित्] भय से भी [वे

विन्यते] उद्विग्न हो जाता है [ऐसा तू] [अनु + अर्चन् + स्वराज्यम्] स्वराज्य का पुजारी बन।

नहि नु यादधीमसीन्द्रंकोवीर्यापरः।
तस्मिन्नृम्णमुतक्रतुं देवा ओजांसि सन्दधुरर्चन्ननु स्वराज्यम्।

(ऋग्वेद १।८०।१५)

(जिसके राज्य मे) [देवाः] विद्वान् [नृम्णम्] धन, [क्रतुम्] पुरुषार्थ, [ओजांसि] पराक्रमो [उत] और [अधिमसि] सर्वोपरि [वीर्य्या] वीर्य्यों को [संदधुः] धारण करते हैं (ऐसे) [परः+ इन्द्रम्] श्रेष्ठ राजा को (पाकर) [कः] कौन [नु] शीघ्र [उत्तमता को] नहि+नहीं [यात्] प्राप्त होता ? (इसलिये) [अनु+अर्चन् + स्वराज्यम्] स्वराज्य का पुजारी बन।

मामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत।
तस्मिन्ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्॥

(ऋग्वेद १।८०।१६)

[दध्यङ्] गुणो को धारण करने वाला, [अथर्वा] दोषरहित और [मनुः] मनन शील (विद्वान्) [याम् + धियम्] जिस बुद्धि को (पाकर उसका) [अत्नत] विस्तार करते हैं [तस्मिन् + इन्द्रे] उस सभाध्यक्ष [के राज्य] में, [पूर्वथा] पूर्व पुरुषों की तरह [ब्रह्माणि] उत्तम धन और [उक्था] वचन को [समग्मत] प्राप्त होकर [अनु +अर्चन्+स्वराज्यम्] स्वराज्य के पुजारी बनो।

ब्रह्मचर्य सूक्त

ब्रह्मचारीष्णश्चरतिरोदसीउभेतस्मिन् देवाः संमनसोभवन्ति।
सदाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसापिपर्ति॥१॥

(अथर्ववेद ११।१)

ब्रह्मचारी [उभे रोदसी] इन [पृथिवी और द्युलोक] दोनों को [इष्णन्] पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ [चरति] चलता है [तस्मिन्] उस [ब्रह्मचारी] मे [देवाः] सब देव [संमनसः] अनुकूल मन के साथ [भवंति] रहते हैं। [सः] वह [ब्रह्मचारी] पृथिवी और [दिव] द्युलोक को धारण करता है और [सः + आचार्य + तपसा + पिपर्ति] वह तप से आचार्य को परिपूर्ण रखता है।

नोट—ब्रह्मचारी देवों से ज्ञान लेकर, उस ज्ञान के रूप में विद्वानों को अपने भीतर रखता है।

ब्रह्मचारिण पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्तिसर्वे।
गन्धर्वाएनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः-
सर्वान्त्सदेवांस्तपसो पिपर्ति ॥ २ ॥

(अथर्ववेद ११।२)

पितर=पालन करने वाले देवजन=विजय इच्छुक देव और गन्धर्व=सामगायन कर्ता [सर्वे] सभी पृथक्-पृथक् ब्रह्मचारी को अनुसरते=अनुकूल रहते है। ६३३३ [6333] देव [एनम् + अनु] इस [ब्रह्मचारी] के पीछे [आयन्] चलते है [सः] वह [ब्रह्मचारी] समस्त देवों=व्यवहार कुशल विद्वानो को [तपसा + पिपर्ति] तप से भरपूर करता है।

नोट—ऋग्वेद और यजुर्वेद में देवताओं की संख्या ३३३९ वर्णित है परन्तु याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रकट किया है कि देवता तो असल में ३३ ही हैं, बाकी उनकी विभूति है। ऐसा ही इन ६३०० को भी समझना चाहिये।

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं, कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे विभर्तितंजातं द्रष्टुमभि सयन्ति देवाः ॥

(अथर्व० ११।५।३)

आचार्य ब्रह्मचारी को (उपनयमानः) अपने पास करने वाला=यज्ञोपवीत देने वाला (अन्तः + गर्भे) अपने अन्दर (कृणुते) करता

है। (तम्) उस (ब्रह्मचारी) को (तिस्रः + रात्रीः + उदरे + बिभर्ति) तीन रातों तक उदर मे रखता है। (जब द्विजन्मा होकर वह आता है तब) (तम् + जातम् + द्रष्टुम् + देवाः + अभिसंयन्ति) उस उत्पन्न हुये (ब्रह्मचारी) को देखने को विद्वान् सब ओर से इकट्ठे होते हैं।

भावार्थ—अभिप्राय यह है कि आचार्य ब्रह्मचारी को उपनीत करके तीन दिन तक उसे अपने पास मानो अपने हृदय ही मे उसे अपने भीतर रखता है अर्थात् वह सोचता है कि किस प्रकार इसे तीनों प्रकार के दुःखों से निवृत्त करे। तीन रात्रि का मतलब इन्हीं तीनों प्रकार के दुःखों से है। जब आचार्य इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे वेदादि की शिक्षा देना प्रारम्भ करता है, यही मानो उसका दूसरा जन्म है। इस शिक्षा को देखने तथा सहायता देने के लिये विद्वान् उस ब्रह्मचारी के पास आते रहते हैं।

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधापृणाति ।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥

(अथर्व० ११।५।४)

(इयं + पृथिवी) यह पृथिवी पहली (समित्) समिधा और (द्वितीया + द्यौ.) दूसरी (समिधा) द्युलोक है। (उत) और (अन्तरिक्षं + समिधा + पृणाति) अन्तरिक्ष को (तीसरी) समिधा से पूर्ण करता है। समिधा अर्थात् यज्ञ द्वारा मेखला (कटिबद्धता का चिह्न) परिश्रम शीलता और तप से (लोकान् + पिपर्ति) लोको को पालता = उन्नत करता है। अर्थात् यज्ञ और तप आदि से ब्रह्मचारी तीनों लोको के उन्नति का कारण बनता है।

पूर्वोजातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारीधर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥

(अथर्व० ११।५।५)

(ब्रह्मणः + पूर्व.) वेद [ज्ञान] के पूर्व [ब्रह्मचारी जातः] ब्रह्मचारी होता है। [घर्मं + वसानः] उष्णता [पुरुषार्थ की गरमी] धारण करता हुआ [तपसा] तप के साथ [उत् + अतिष्ठत्] ऊपर

उठता है। [तस्मात्] उस [ब्रह्मचारी] से [ब्राह्मणं+ज्येष्ठं+ब्रह्म] ब्रह्म सम्बन्धी श्रेष्ठ ज्ञान [जातं] प्रसिद्ध होता है। [च+सर्वे देवाः+अमृतेन+साकम्] और सब देव=विद्वान अमृत के साथ होते है।

भावार्थ—यह आवश्यक है कि विद्याप्राप्ति से पहले मनुष्य ब्रह्मचारी बने, ब्रह्मचर्य काल में पुरुषार्थ और तप करने से उच्चता प्राप्त होती है। ऐसे उच्च ब्रह्मचारी ही, ईश्वर के श्रेष्ठ ज्ञान की प्रसिद्धि=विस्तार किया करते हैं।

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णंवसानो दीक्षितोदीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्यमुहुराचरिक्रत ॥

(अथर्व० ११।५।६)

[समिधा+समिद्धः] तेज से प्रकाशित, [कार्ष्णंवसानः] काली मृगछाला धारण किये हुए, [दीक्षित] दीक्षाप्राप्त, [दीर्घश्मश्रु] बड़ी बड़ी दाढ़ी मूँछ धारण किये हुए, [ब्रह्मचारी+एति] ब्रह्मचारी प्रगति करता है। [सः+लोकान्+संगृभ्य] वह लोक संग्रह करता हुआ [मुहः] बारबार [आचरिक्रत्] उन्हें उत्साहित करता है। [सः+पूर्वस्मात्+उत्तरं समुद्रं] वह पूर्व से उत्तर समुद्र तक (सद्यः+एति) शीघ्र पहुँचता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर, ब्रह्मचारी का चित्र इस मत्र मे खिंचा हुआ है, वह ब्रह्मचारी लोगों मे वेद प्रचार करता हुआ उन्हें उत्साहित करता है और पृथिवी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक भ्रमण करता है।

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मा योलोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भोभूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रोह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥

[अथर्व० ११।५।७]

जो [अमृतस्य योनौ] ज्ञानामृत के केन्द्र स्थान मे [गर्भः भूत्वा] गर्भ रूप रहकर [ब्रह्मचारी] ब्रह्मचारी (बना है, वही) [ब्रह्म] ज्ञान, अपः=कर्म, लोकं=जनता, प्रजापति=प्रजापालक राजा, [विराजं+परमेष्ठिनं] विशेष तेजस्वी परमात्मा को [जनयन्]

प्रकट करता हुआ [इन्द्रः भूत्वा] शत्रुनाशी बनकर [ह+असुरान्+ततर्ह] निश्चय से असुरों का नाश करता है।

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसोभवन्ति ॥

[अथर्व० ११।५।८]

[इमे] ये [उर्वीगम्भीरे] बड़े गम्भीर [उभे—नभसी] दोनों [पृथिवी दिवं, च] अप्रकाशित और प्रकाशित लोक [आचार्यः+ततक्ष] आचार्य ने बनाये हैं। (अर्थात् ब्रह्मचारी के मस्तिष्क मे इनका ज्ञान आचार्य ने दिया है) [ब्रह्मचारी, तपसा, ते, रक्षति] ब्रह्मचारी तप से उन (के दिये ज्ञान) का रक्षण करता है। [तस्मिन्] उस [ब्रह्मचारी] मे [देवाः, संमनसः, भवन्ति] सब विद्वान् अनुकूल मन के साथ रहते हैं। अर्थात् ऐसा ब्रह्मचारी विद्वानो का सदा कृपा पात्र होता है।

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमोदिवं च।
ते कृत्वा समिधा वुपास्तेतयोरर्पिता भुवनानिविश्वा ॥

[अथर्व० ११।५।९]

[प्रथम.] पहले [ब्रह्मचारी] ब्रह्मचारी ने [इमां+पृथिवीं+भूमिं+च+दिवं] इस विस्तृत भूमि [अप्रकाशित लोक] और द्यु [प्रकाशित] लोक की [भिक्षां+आजभार] भिक्षा प्राप्त की है (अर्थात् भिक्षा द्वारा इनका ज्ञान प्राप्त किया है) [ते+समिधा+कृत्वा] उन [दोनो लोको की, अब वह ब्रह्मचारी] दो समिधायें करके उन्हें [उपास्ते] व्यवहार मे लाता है। [तयोः+विश्वा भुवनानि+अर्पिता] उन दोनो मे [अर्थात् पृथिवी और द्यौ मे] समस्त भुवन=लोक स्थापित हैं।

नोट—समिधा को यज्ञीय कार्य मे जिस प्रकार ब्रह्मचारी निरन्तर काम में लाता है उसी प्रकार इन दोनो प्रकार के लोकों की ज्ञान वृद्धि, इन पर निरन्तर विचार करता हुआ, करता रहता है।

अर्वागन्यः परोऽन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहानिधि निहितौ ब्राह्मणस्य ।
तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्मविद्वान् ॥

[अथर्व० ११।५।१०]

[ब्राह्मणस्य, निधि, गुहा निहितौ] ब्रह्मज्ञान के दो कोष ब्रह्मचारी की बुद्धि मे निहित है। [अन्यः+अर्वाक्] एक समीप है और [अन्यः+दिवः+पृष्ठात्+पदः] दूसरा हृदयाकाश के पीठ से परे। [तौ] उन दोनो [कोषो] की, [ब्रह्मचारी, तपसा, रक्षति] ब्रह्मचारी अपने तप से रक्षा करता है। [विद्वान्] विद्वान [ब्रह्मचारी] [तत्+केवलं+ब्रह्म] केवल उस ब्रह्म को [कृणुते] प्रत्यक्ष करता है।

भावार्थ—पाँच कोषों (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय) में से केवल दो कोष विज्ञान तथा आनन्दमय ब्रह्मप्राप्ति से सम्बन्धित हैं। एक विज्ञानमय बुद्धि के समीप और दूसरा आनन्दमय हृदयाकाश से परे, कारण शरीर की सीमा में है। ब्रह्मचारी इन दोनों की, अपनी तपस्या से रक्षा करता हुआ, आनन्दमय कोष की प्राप्ति द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार किया करता है।

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नि समेतो नभसी अन्तरेमे ।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ॥

[अथर्व० ११।५।११]

[अग्नि, इमे, नभसी, अन्तरा] दो अग्नि इन [पृथिवी और द्यौ के मध्यवर्ती] आकाश मे [समेतः] मिलती हैं। [अर्वाक्+अन्यः] एक समीप और [अन्यः, इतः+पृथिव्याः] दूसरी इस पृथिवी से दूर है। [तयोः+रश्मयः+दृढ़ा] उनकी किरणे दृढ़ होकर [अधिश्रयेते] फैलती हैं। [ब्रह्मचारी+तपसा+तान्+आतिष्ठति] ब्रह्मचारी तप से उन [किरणो] मे सब ओर से ठहरता है।

भावार्थ—अग्नि के दो भेद होते हैं एक अव्यक्त, जो मनुष्य शरीर आदि के भीतर काम करती है, यह तो समीपवाली अग्नि है और दूसरी व्यक्त जो सूर्य से अग्निरूप मे प्राप्त होती है। ये दूर की अग्नि है। इन दोनों अग्नियो की

किरणे आकाश में मिलती हैं। ब्रह्मचारी तप से दोनों अग्नियों पर अधिकार रख कर दोनों से लाभ उठाता है।

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपेड भूमौजभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्या तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥

[अथर्व० ११।५।१२]

[अभिक्रन्दन्+स्तनयन्] गरजने और कड़कने वाला [अरुणः, शितिग.] भूरे और काले रंग वाला [बृहत्, शेपः] बड़ा प्रभावशाली [ब्रह्मचारी] ब्रह्म अर्थात् उदक को साथ ले चलनेवाला बादल [भूमौ, अनु, जभार] भूमि का पोषण करता है। [सानौ पृथिव्या] पहाड़ और भूमि पर [रेतः, सिंचति] जल की वृष्टि करता है। [तेन, चतस्रः, प्रदिश., जीवन्ति] उससे चारो दिशाये जीवित रहती हैं।

नोट—इस मत्र के इस सूक्त मे सम्मिलित करने का भाव यह है कि मेघ को आदर्श बना कर, ब्रह्मचारी को, ये गुण अपने भीतर धारण करने चाहिये।

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधा दधाति।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्तितासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः॥

[अथर्व० ११।५।१३]

अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु और [अप्सु] जल मे ब्रह्मचारी समिधा डालता है। उनके तेज पृथक् पृथक् [अभ्रे, चरन्ति] बादलों मे संचार करते हैं। [तासां] उनसे [वर्ष, आपः] वृष्टि, जल और [आज्यं] घृत तथा [पुरुष.] पुरुष की उत्पत्ति होती है। अर्थात् ब्रह्मचारी का अग्निहोत्र के समय अग्नि मे आहुति मानो सभी को तृप्त करना है।

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥

[अथर्व० ११।५।१४]

आचार्य—मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि तथा पय=दुग्ध रूप है। (इसके जो) [सत्त्वानः] सात्त्विक भाव हैं, वे [जीमूताः आसन्]

मेघ रूप हैं। क्योंकि [तैः] उनके द्वारा [इदं, स्वः, आभृतम्] यह सुख लाया गया है।

अमाघृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वावरुणोयद्यदैच्छत् प्रजापतौ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत्स्वान् मित्रो अध्यात्मनः ॥

[अथर्व० ११।५।१५]

[आचार्य और ब्रह्मचारी का] अमा=सहवास [केवलम्] शुद्ध=खालिस [घृतम्] तेज अथवा प्रकाश (कृणुते] करता=फैलाता है। [आचार्यः, वरुणः, भूत्वा] आचार्य श्रेष्ठ बन कर [प्रजापतौ] प्रजा पालक के (विषय में) [यत्, यत्, ऐच्छत्] जो जो चाहता है [तत्] उसको [मित्रः, ब्रह्मचारी] मित्र ब्रह्मचारी [स्वात्+आत्मनः] अपने आत्मबल से [अधि प्रायच्छत्] पूरा करता है।

भावार्थ—मन्त्र में शिक्षा दी गई है:—[१] गुरु और शिष्य के सम्मेलन से ज्ञान का प्रकाश फैला करता है। [२] गुरु को शिष्य के साथ मित्रता का भाव रखना चाहिये [३] शिष्य को आत्मबल की वृद्धि करके, गुरु की आज्ञा का पालन करना चाहिये। [४] आचार्य को वरुण=श्रेष्ठ होना चाहिये।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्राभवद्वशी ॥

[अथर्ववेद ११।५।१६]

आचार्य को ब्रह्मचारी होना चाहिये और प्रजापति=राजा=शासक को [भी] ब्रह्मचारी [होना चाहिये]। [प्रजापति] प्रजापति [ब्रह्मचारी होकर] वि-राजति विशेष शोभित होता है। (वशी) सयमी, (वि–राड्) राजा ही (इन्द्रः, भवत्) इन्द्र होता है=इन्द्र कहा जाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

[अथर्ववेद ११।५।१७]

ब्रह्मचर्य और तप से राजा राष्ट्र=राज्य को [विरक्षति] रक्षित रखता है। [आचार्यः] अध्यापक [ब्रह्मचर्येण] ब्रह्मचर्य के साथ [रहने वाले] ब्रह्मचारिणम्=ब्रह्मचारी की [इच्छते] इच्छा करता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या ३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥

[अथर्ववेद ११।५।१८]

कन्या ब्रह्मचर्य का आचरण करके युवा=जवान पति को (विन्दते) प्राप्त करती है। [अनडवान्] वैल और [अश्वः] घोड़ा [ब्रह्मचर्येण] ब्रह्मचर्य का पालन करके ही [घासं, जिगीर्षति] घास खाता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

[अथर्ववेद ११।५।१९]

ब्रह्मचर्य और तप से [देवाः, मृत्युं, अपाघ्नत्] देवों ने मृत्यु को दूर किया। इन्द्र ने ब्रह्मचर्य ही से [देवेभ्य] देवों को [स्वः] [आभरत्] दिया।

इन्द्र=आचार्य या जीवात्मा—देव=विद्वान् या इन्द्रिय।

ओषधयो भूत भव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

[अथर्ववेद ११।५।२०]

[ओषधयः] औषधियाँ, [वनस्पति] वनस्पतियाँ, [ऋतुभिः, सह, सवत्सरः] ऋतुओं के साथ चलने वाला संवत्सर, [अहो रात्रे] दिन रात, [भूत भव्य] भूत और भविष्यत् [ते] ये सब [ब्रह्मचारिणः, जाताः] ब्रह्मचारी हो गये हैं।

मंत्र का भाव यह है किसमस्त विश्व ब्रह्मचर्य से युक्त है।

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

[अथर्ववेद ११।५।२१]

[पार्थिवा] पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले, [अरण्याः, ग्राम्याः] जंगल और ग्राम मे उत्पन्न होने वाले, [अपक्षाः, पशवः] बिना पंख वाले पशु, [दिव्याः, पक्षिणः] आकाश मे उड़ने वाले पक्षी [ते] ये सब [ब्रह्मचारिणः, जाता] ब्रह्मचर्य के पालन करनेवाले है ।

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥

[अथर्ववेद ११।५।२२]

(सर्वे, प्राजापत्याः) परमात्मा से उत्पन्न हुये सभी [पृथक्] पृथक् पृथक् [आत्मसुप्राणान्] अपने अन्दर प्राणो को [बिभ्रति] धारण करते है । [ब्रह्मचारिणि] ब्रह्मचारी मे [आभृतं] धारण किया हुआ [ब्रह्म] ज्ञान [तान्+सर्वान्+रक्षति] उन सब का रक्षण करता है ।

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्मज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥

[अथर्व० ११।५।२३]

[देवानाम्] देवो का [एतत्] यह [परि-षूतं] उत्साह देने वाला [अनभ्यारूढं] सबसे श्रेष्ट [रोचमानं] तेज [चरति] चलता है । [तस्मात्] उससे [ब्राह्मणम्] ब्रह्म सम्बन्धी [ज्येष्ठ, ब्रह्म] श्रेष्ठ ज्ञान [जातम्] प्रकट हुआ है [अमृतेन+साकं] अमरत्व के साथ [सर्वे, देवाः] सब देव [भी प्रकट हुये हैं] ।

भावार्थ—प्रारम्भ में हुए दिव्य ऋषियों को तेजस्विता से, ब्रह्मसम्बन्धी श्रेष्ठ ज्ञान [वेदों के द्वारा] प्रकट हुआ और उसी श्रेष्ठ ज्ञान से देवों ने=बाद को हुए श्रुत ऋषियो ने अमरत्व प्राप्त किया ।

ब्रह्मचारी ब्रह्मभ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधिविश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥

[अथर्व० ११।५।२४]

[भ्राजत्, ब्रह्म] चमकने वाले ज्ञान को (भ्राजत्, ब्रह्मचारी, विभर्ति) [ब्रह्मचर्य से] प्रकाशमान ब्रह्मचारी धारण करता है। [तस्मिन्] उसमें [विश्वे देवाः] सब विद्वान (अपने ज्ञान द्वारा) [अधि, समोताः] रहते हैं। वह (ब्रह्मचारी इसलिये) [प्राणापानौ, व्यान, वाच, मनः, हृदयं] प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय, [ब्रह्म] ज्ञान [आत्] और [मेधाम्] मेधावी वुद्धि को [जनयन्] प्रकट करता है। अर्थात् उस ब्रह्मचारी के ये सभी पदार्थ उपयोगी वन जाते हैं।

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्.॥

[अथर्व० ११।५।२५]

(अव मंत्र सं० २४ में वर्णित ब्रह्मचारी से प्रार्थना करते हैं कि ब्रह्मचारिन्) [अस्मासु] हम सव [जनता] में चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, [रेतः] वीर्य, [लोहितं] रुधिर और [उदरं) पेट=पाचन क्रिया को (धेति) पुष्ट करो।

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो वभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां वहुरोचते॥

[अथर्व वेद ११।५।२६]

[तानि] उन [कर्मों] को [कल्पत्] करता हुआ [समुद्रे] समुद्र [के समान गम्भीर ब्रह्मचर्य व्रत] में [तपः तप्यमानः] तपस्या करता हुआ [सलिलस्य, पृष्ठे] जल के समीप [अतिष्ठत्] स्थित है। [स.] वह [स्नातः] स्नान करके [जब स्नातक हो जाता है तो] [वभ्रुः+पिङ्गलः] अत्यन्त तेजस्वी होने से (पृथिव्यां, वहु, रोचते) पृथिवी पर वहुत चमकता है।

———

पुरुष सूक्त

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमि ँ सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम् ॥

[यजुर्वेद ३१।१]

[सहस्र शीर्षा] सहस्रों शिर, [सहस्राक्षः, सहस्रपात्] सहस्रों आँखें और सहस्रों पाँव [जिसमें हैं ऐसा] पुरुष=परमेश्वर है। [सः, सर्वतः, भूमिम्] वह सब ओर से भूमि=ब्रह्मांड में [स्पृत्वा] व्याप्त होके [दशांगुलम्] दश [५ स्थूल+५ सूक्ष्मभूत रूपी] अवयव वाला (अति, अतिष्ठत्) [सबको] उल्लंघन कर ठहरा हुआ है।

भावार्थ—(१) सर्वाधार होने से, असंख्य शिर, आँख और पाँव वाले प्राणी उसमें हैं, (२) वह ईश्वर समस्त जगत में व्यापक है, (३) स्थूल और सूक्ष्म-भूत अर्थात् कार्य्य प्रकृति से उसने समस्त जगत बना कर, उससे अलिप्त होकर ब्रह्माण्ड में परिपूर्ण हो रहा है।

पुरुषएवेद ँ सर्वं। यद्भूतं यच्चभाव्यम् ।
उतामृतत्वस्ये शानोयदन्नेनाति रोहति ॥

(यजुर्वेद ३१।२)

[यत्, भूतम्, यत्, च, भाव्यम्] जो उत्पन्न हुआ और जो उत्पन्न होने वाला है (उत) और (यत्) जो (अन्नेन+अति रोहति) अन्न= पृथिवी [आदि के सम्बन्ध) से बढ़ता है (इदम्+सर्वम्+पुरुष+ +एव) ये सब पुरुष+व्यापक ईश्वर ही है (और वही) (अमृत-त्वस्य+ईशानः) अमर जीवन का स्वामी है।

भावार्थ—परमेश्वर जगत् में व्यापक है। ठीक उसी प्रकार से जैसे एक दहकते हुये लोहे में अग्नि परिपूर्ण है। उस दहकते हुए गोले को यदि लोहे का गोला कहें तो भी ठीक है; क्योंकि यथार्थ में वह लोहा ही है, परन्तु यदि उसे अग्नि कहे तो भी ठीक है, क्योंकि हाथ रखने से जलने लगता है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड रूपी लोहे के गोले को, जिसमें अग्निवत् ब्रह्म परिपूर्ण है, यदि

प्राकृतिक ब्रह्माण्ड कहें तब भी ठीक है, क्योंकि उपादान कारण प्रकृति का यह कार्य है, परन्तु यदि इसे ईश्वर कहें तब भी ठीक है; क्योंकि वह इसमें अग्निवत् व्यापक है। इसलिये इसमें इस समस्त ब्रह्माण्ड को ईश्वर कहा गया है।

एतावानस्य महिमातोऽज्यायांश्च पूरुषः।

पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

(यजुर्वेद ३१।३)

अस्य (इस) (ईश्वर) की, (एतावान्) यह (चराचर जगत) महिमा = विभूति है। वह (पुरुषः) पुरुष = ईश्वर (अतः + ज्यायान्) इस (जगत्) से महानतम है। (च) और (विश्वाभूतानि) समस्त ब्रह्माण्ड (अस्य + पादः) इसका एक अंश अर्थात् अल्पांश है। (अस्य, त्रिपाद्, अमृतम्, दिवि) इसके तीन अंश अर्थात् अधिकांश (उसके) अविनाशी दिव्यरूप में हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।

ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि॥

(यजुर्वेद ३१।४)

पूर्वोक्त (त्रिपाद्) तीन अंशो वाला (पुरुषः) परमेश्वर (ऊर्ध्वं) सबसे उत्तम (उत् + ऐते) (यही) उदय हो रहा है। (अस्य, पादः) उसका एक अंश (व्यापकत्व से प्रकृति के रूप मे), (इह) संसार मे (पुनः + अभवत्) वारवार ("यथा पूर्वमकल्पयत्" की मर्यादानुसार) उत्पन्न होता रहता है (ततः) उसी (एक अंश) से वह (साशनानशने) खाने वालों (चेतन) और न खाने वालों (जड़) (अभि) मे (विष्वङ्) विविधरूप से (वि अक्रामत) व्याप्त है।

ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथोपुरः॥

(यजुर्वेद ३१।५)

(ततः) उस (परमेश्वर) से (विराट्) विराट (रूपजगत) अजायत = उत्पन्न होता है। (विराजः, अधि, पुरुषः) विराट (संसार)

के ऊपर पुरुष=परमात्मा है। (सः) वह पुरुष (अथः, पुरः) पहले से (जातः) प्रसिद्ध हुआ (अति, अरिच्यत) जगत से अतिरिक्त होता है। (पश्चात्+भूमिम्) पीछे से जगत (उत्पन्न होता है)।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्।

पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥

(यजुर्वेद ३१।६)

(तस्मात्) उस (सर्वहुतः) सर्वगृहणीय (यज्ञात्) यज्ञ (पुरुष) से (पृवदाज्यम्) घृतादि विविध पदार्थ (सम्भृतम्) उत्पन्न हुये। (ये+अरण्याः) जो वन के रहने वाले (सिंह आदि), (च+ग्राम्याः) और ग्राम के (गो आदि) को तथा (तान्) उन (वायव्यान्) वायु से सम्बन्धित (पशु) पक्षियों को (चक्रे) उत्पन्न किया।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

(यजुर्वेद ३१।७)

(तस्मात्+यज्ञात्) उस यज्ञ पुरुष से, जो (सर्वहुत) सर्व गृहणीय है, (ऋचः, सामानि जज्ञिरे) ऋग्वेद और सामवेद उत्पन्न हुये। (तस्मात्, छन्दांसि, जज्ञिरे) उससे अथर्ववेद प्रकट हुआ (तस्मात्, यजुः, अजायत) उसीसे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।

गावोहजज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥

(यजुर्वेद ३१।८)

(तस्मात्) उस (पुरुष) से, (अश्वाः) घोड़े, तथा (ये) जो (के) कोई (च) और (उभयादतः) दोनों ओर (नीचे ऊपर) दाँत वाले हैं, (अजायन्त) उत्पन्न हुये (तस्मात्) उससे (गावः) गाय बैल आदि, (ह) निश्चय कर (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये (तस्मात्) उसीसे, अजावय=भेड़ बकरी (जाताः) उत्पन्न हुये।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषंजातमग्रतः ।
तेनदेवाअयजन्तसाध्या ऋषयश्च ये ॥

(यजुर्वेद ३१।९)

(तन्, अग्रतः जातम, यज्ञं, पुरुपम्) उस, (सृष्टि के) पूर्व से प्रकट, यज्ञ पुरुष को (विद्वान्) (बर्हिषि) स्तुति मे (प्रौक्षन) सींचते = धारण करते हैं। (तेन) उससे (ये, देवाः, साध्याः ऋषयः) जो देव, साधक और ऋषि हैं (उत्पन्न होकर उसकी) (अयजन्त) उपासना करते हैं।

यत्पुरुपंव्यदधुः कतिधाव्यकल्पयन् ।
मुखं किमस्यासीत्कि बाहूकिमूरु पादा उच्येते ॥

(यजुर्वेद ३१।१०)

(यत्पुरुपं) जिस (विराट) पुरुप को, (कतिधा, वि, अकल्पयन्) अनेक प्रकार से कहते और (वि, अदधुः) धारण करते हैं। (अस्य) इस (विराट पुरुप) का (मुखं, कि, आसीत्) मुख क्या था, (बाहु, किम) बाहू क्या (था तथा) (ऊरू, पादौ, किम्, उच्येते) जंघा और पॉव कौन कहे जाते हैं ?

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
उरूतदस्यय द्वैश्यः पद्भ्यांशूद्रो अजायत ॥

(यजुर्वेद ३१।११)

(अस्य) इस (विराट पुरुप) का (ब्राह्मणः मुखं, आसीत्) ब्राह्मण मुख था, (बाहू, राजन्यः, कृतः) बाहू क्षत्री को किया, (तदस्य ऊरू, यत, वैश्यः) वह उसकी जंघा थी जो वैश्य है, (पद्भ्याम, शूद्रः, अजायत) पावों से शूद्र प्रकट हुआ।

चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्यो अजायतः ।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥

(यजुर्वेद ३१।१२)

(उसी विराट पुरुष के) (मनसः, चन्द्रमा, जातः) मन से चन्द्रमा प्रकट हुआ, (चक्षोः, सूर्यः, अजायत) आँखों से सूर्य उत्पन्न हुआ। (च, श्रोत्रात्, वायुः) और श्रोत्र से वायु (च, प्राणः) और प्राण, (मुखात्, अग्निः, अजायत) तथा मुख से अग्नि उत्पन्न हुई।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकां २ अकल्पयन्॥

(यजुर्वेद ३१।१३)

(नाभ्याः, अन्तरिक्षं, आसीत्) नाभि से अन्तरिक्ष (प्रकट हुआ) था, (शीर्ष्णः, द्यौः) शिर से द्युलोक, (पद्भ्या, भूमिः, सं, अवर्त्तत्) पैरो से भूमि प्रकट हुई, (श्रोत्रात्, दिशः) श्रोत्र से दिशायें, (तथा, लोकान्, अकल्पयन्) और (अन्य) लोक प्रकट हुये।

यत्पुरुषेण हविषा देवायज्ञमतन्वत।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

(यजुर्वेद ३१।१४)

(यत्, पुरुषेण, हविषा) जिस (विराट) पुरुष की हवि से (देवाः, यज्ञं, अतन्वत) विद्वानो ने यज्ञ का विस्तार किया (उसका) (वसन्तः, आज्यम्) वसत ऋतु घृत (ग्रीष्मः, इध्मः) ग्रीष्म ईंधन और (शरत, हविः, आसीत्) शरत ऋतु हवि थी।

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।

देवायद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥

(यजुर्वेद ३१।१५)

(यत्, यज्ञं, देवाः, तन्वानः) जिस यज्ञ को विद्वान लोग फैलाते हुये (पशुं, पुरुषं, अवध्नन्) देखने=जानने योग्य पुरुष=परमात्मा को (अपने हृदय मे) बाँधते हैं, (अस्य, सप्त, परिधयः) उस (यज्ञ) की (गायत्री आदि छंद) सात परिधियाँ=लपेट (आसन) थे। (त्रि+सप्त) इक्कीस (प्रकृति, महत्तत्व, अहंकार, ५ सूक्ष्मभूत, ५

ज्ञानेन्द्रिय, ५ स्थूलभूत और सत्व, रजस् और तमस् तीन गुण) (समिधः+कृताः) समिधायें बनाई ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
तेहनाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥
(यजुर्वेद ३१।१६)

(देवाः, यज्ञेन) विद्वान लोग यज्ञ से (यज्ञं, अयजन्त) यज्ञ पुरुष=परमात्मा की पूजा करते हैं (तानि, धर्माणि, प्रथमानि, आसन्) वे धर्म=कर्तव्य प्रथम=श्रेष्ठ हैं । (ते) वे (विद्वान) (ह) निश्चय है कि (महिमानः) महत्त्व से युक्त होकर, (यत्र, पूर्वे, साध्याः, देवाः, सन्ति) जहाँ, पहले हुये साधक और विद्वान हैं, उस (नाकम्) ब्रह्मलोक को (सचन्त) प्राप्त होते है ।

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥
(यजुर्वेद ३१।१७)

(सम्भृतः) रचे हुये (अद्भ्यः) जल, (पृथिव्यै) पृथिवी, रसात्, च) और रस से (अग्रे , पहले (विश्वकर्मण.) विश्वकर्मा= जगत का रचयिता (समवर्तत्) मौजूद था । वह(तस्य, तत्,रूपं,विदधत्) उस (जगत) के इस रूप को रचता है । (अर्थात् जगत को वर्तमान रूप मे लाता है) (उस विश्वकर्म की) (त्वष्टा=तु+इष्टा) प्राप्ति की इच्छा करने वाला (अग्रे) पहले (मर्त्यस्य, आजानम्, देवत्वम्, एति) मनुष्य के उत्तम कर्म और उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता है ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णंतमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेतिनान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(यजुर्वेद ३१।१८)

मैं (एतं) इस सबसे बड़े, प्रकाश स्वरूप (तमसः परस्तात्) अज्ञान से पृथक् पुरुष=परमात्मा को जानता हूँ । उसीको जान कर (मृत्यं, अति, एति) मृत्यु को (मनुष्य) पार करता है । (अन्यः,

पन्थाः) इससे भिन्न मार्ग (अयनाय) मोक्ष के लिये (न विद्यते) नहीं है।

प्रजापतिश्चरतिगर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्ययोनि परिपश्यन्तिधीरास्तास्मिन्हतस्थुर्भवनानिविश्वा॥

(ऋग्वेद ३१।१९)

(अजायमानः) अजन्मा, (प्रजापति) जगदीश्वर, (बहुधा, विजायते बहुत प्रकार से (जगत मे) प्रकट होता (तथा) (गर्भे, अन्तः, चरति) (शरीरो के भीतर) गर्भ और अन्तःकरणो में भी विचरता है=व्यापक है। (धीराः) धीर पुरुष (तस्य योनिम्) उसके (जगदोत्पत्ति के) कारणत्व को (परि, पश्यन्ति) अनुभव करते है (तस्मिन्) उस (ईश्वर) मे (ह) प्रसिद्ध (विश्वा, भवनानि) सब लोक लोकान्तर (तस्थुः) स्थित है।

योदेवेभ्य आतपतियोदेवानां पुरोहितः।
पूर्वोयोदेवेभ्यो जातो न मोरुचाय ब्राह्मये॥

(यजुर्वेद ३१।२०)

(य.) जो (देवेभ्यः) देवों के लिये (आतपति) प्रकाशित हो रहा है और (यः, देवानां, पुरोहितः) देवो का पुरोहित=हितचिन्तक है। (यः, देवेभ्यः, पूर्वः, जातः) जो (सूर्यादि) देवों से पहले विद्यमान था (रुचाय, ब्राह्मये, नमः) रुचि बढ़ाने वाले=प्रकाश का विस्तार करने वाले (ब्राह्मये) परमेश्वर के लिये (नमः) नमस्कार।

रुचं ब्राह्मंजनयन्तोदेवा अग्रेतदब्रुवन्।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्य त्तस्य देवा असन्वशे॥

(यजुर्वेद ३१।२१)

(देवाः) विद्वान, (रुचं) रुचिकारक (ब्राह्म) ब्रह्म सम्बन्धी (ज्ञान) को (जनयन्तः) प्रकट करते हुये (अग्रे) पतले (तत्) उसे (त्वा, अब्रुवन्) तुम्हें (तथा अन्यों को) बतलावें। (यः, तु)

जो कोई (ब्राह्मणः) विद्वान् (एवं) इस प्रकार (विद्यात्) जाने (और आचरण करे) (तस्य, वशेः, देवाः, असन्) उसके वश में इन्द्रियाँ होती हैं।

श्रीश्चतेलक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणिरूपमश्विनौव्यात्तम्। इष्णान्निषाणामुं म इषाण सर्वलोकं म इषाण ॥

(यजुर्वेद ३१।२२)

हे परमेश्वर! (ते) आपकी (श्रीः, च) शोभा और (लक्ष्मीः, च) ऐश्वर्य भी (पत्न्यौ) दो स्त्रियों के (तुल्य वर्तमान) (अहो रात्रे) दिन रात (पार्श्वे) आगे पीछे, (व्यात्तम्, नक्षत्राणि खुले हुये मुख वाले नक्षत्र, (अश्विनौ) द्यौ और पृथिवी (रूपम्) रूप वाले हैं। (आप) (इष्णन्) इच्छा करते हुये (मे) मेरे लिये (अमुम्) उस (मोक्षानन्द) को (इषाण) प्राप्त करावें। (मे, सर्वलोकम्, इषाण) मेरे लिये सब लोक प्राप्त करावे।

संगठन विषय

(१) ऋग्वेद का संगठन सूक्त

सं समिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्यआ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्याभर॥

(ऋग्वेद १०।१९१।१)

(वृषन्) हे बलवान् और (अर्य) श्रेष्ठ (अग्ने) तेजस्वी (ईश्वर) आप (विश्वानि) सब (पदार्थों) को (इत) निश्चय से (सं सं आ—युवसे) एकत्रित करके सम्मिलित करते हो और (इडः, पदे) भूमि पर (सं इध्यसे) उत्तम प्रकार से प्रकाशित हो। (सः) वह आप (नः) हम सब के लिये (वसूनि, आभर) धनों को प्राप्त करावें।

संगच्छध्वं सं वदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥

(ऋग्वेद १०।१९१।२)

(मनुष्यो ! तुम सब) (सगच्छध्वं) मिलकर चलो, (सं वदध्व) एक भाषा बोलो, (वः, मनांसि) तुम सबके मन (सजानतां) एक जैसा ज्ञान रखने वाले हों, (यथा) जैसे पूर्वे=पहले (सं, जानाना:, देवाः) उत्तम ज्ञानी (और व्यवहार कुशल) विद्वान (भागं) अपना भाग=अपना कर्तव्य (उप—आसते) पालन करते आये है ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानंमनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रयेवः समानेनवो हविषा जुहोमि ॥

(ऋग्वेद १०।१९१।३)

(वः) तुम सबका, (मन्त्रः, समानः) विचार समान=एक जैसा हो । (समितिः समानी) सभायें एक जैसी हो, (मनः, समानं) मन (भी) समान=एक जैसे विचार वाले हों, (एषां, चितं, सह) इन सबका चित्त भी (एक दूसरे के) साथ हो । (समानं मन्त्रं) एक जैसे विचार मे (अभिमन्त्रये) (तुम सबको, ईश्वर कहता है कि) युक्त करता हूँ । (वः समाने ने, हविषा, जुहोमि) तुम सबको एक ही प्रकार से हवन करने का विधान करता हूँ । अर्थात् तुम्हारी उपासना का प्रकार एक ही हो ।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋग्वेद १०।१९१।४)

(वः) तुम सबका (आकूतिः) ध्येय (समानी) समान हो, (वः, हृदयानि, समाना) तुम्हारे हृदय समान हो (वः, मनः, समान, अस्तु) तुम्हारे मन समान हो (यथा) जिससे (वः) तुम्हारी (सह, सु, असति) संघ शक्ति उत्तम हो ।

(२) अथर्ववेद का संगठन सूक्त

सं सं स्रवन्तु सिंधवः सं सं वाताः सं पतत्रिणः ।
इमं यज्ञं प्रदिवो मेजुवन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥

(अथर्व० १।१५।१)

(सिंधवः) नदियाँ (सं सं स्रवन्तु) मिलकर बहती रहें, (वाताः, सं सं) वायु मिल कर चलता रहे। (पतत्रिणः सं) पक्षी मिल कर उड़ते रहें। (प्रदिवः) दिव्यजन (मे, इमं, यज्ञं) मेरे इस यज्ञ को (जुवन्ताम्) प्रयोग मे लावे (क्योंकि मे) (सस्राव्येण, हविषा) संगठन करके हवि से (जुहोमि) यज्ञ कर रहा हूँ ॥

इहैव हव मायात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः ।
इहैतु सर्वोयः पशुरस्मिन् तिष्ठतु यारयिः ॥

(अथर्व० १।१५.२)

(इह, एव) यहीं (मे, हवं) मेरे यज्ञ में (आयात) आओ (उत) और (संस्रावणा) संगठन करने वाली (गिरः) वाणी (इमं, वर्धयत) इस (संगठन) को बढावे। (यः, सर्व, पशु) जो सर्व साक्षी (नेता) है (इह, एतु) (वे भी) यहाँ आवे। (अस्मिन्) इस (यज्ञ = सम्मिलित कार्य) मे (या, रयिः) जो (सघ शक्तिरूप) धन है (तिष्ठतु) ठहरे, अर्थात् बना रहे।

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं संस्रावयामसि ॥

(अथर्व० १।१५।३)

(नदीना, ये, अक्षिताः, उत्सासः) नदियो के जो अक्षय स्रोत इस (सद) स्थान मे (सस्रवन्ति) बह रहे हैं (तेभिः, मे, सर्वैः, संस्रावैः) उन मेरे सब स्रोतो से (धनं) धन (संस्रावयामसि) इकट्ठा करते हैं ॥

भावार्थ—अनेक स्रोतों के जलों को इकट्ठा करने से विशाल नदियाँ बहा करती हैं जिनके जल सेचन से मनुष्य धन की वृद्धि किया करता है।

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च।
तेभिर्मे सर्वैः सस्रावैर्धनंसंस्रावयामसि॥

(अथर्व० १।१५।४)

(ये) जो (सर्पिषः) घी की, (क्षीरस्य) दूध की (च, उदकस्य) और जल की (धारायें) (सस्रवन्ति) बह रही हैं। उन सब धाराओं से हम धन इकट्ठा करते है।

अथर्ववेद का एकता सूक्त

स हृदयं सां मनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

(अथर्व० ३।३०।१)

(स, हृदयं) सहृदय, (सां-मनस्यं) समता पूर्ण मन वाला, (अविद्वेषं) द्वेष रहित (वः, कृणोमि) तुम्हें मैं करता हूँ। (अन्यः, अन्यं, अभिहर्यत) प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक दूसरे को प्रेम करे, (अघ्न्या, जातं, वत्सं, इव) जैसे गाय नवजात बछड़े को प्यार करती है।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥

(अथर्व० ३।३०।२)

पुत्र पिता के [अनुव्रतः] पीछे चलने वाला = आज्ञाकारी और माता के साथ, अच्छा मन रखने वाला होवे। पत्नी पति से मधुर और शान्तिप्रद भाषण करे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसार मुतस्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥

[अथर्व० ३।३०।३]

भाई-भाई से द्वेष न रखे और बहिन-बहिन से (द्वेष न करे)। (सम्यञ्चः, सव्रताः, भूत्वा) एक मत और एक व्रत वाले होकर उत्तम रीति से भाषण करो।

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥

(अथर्व० ३।३०।४)

(येन, देवाः, न वियन्ति) जिससे विद्वान (आपस में) विरोध नहीं करते (च, नो, मिथः, विद्विषते) और न परस्पर द्वेष बढ़ता है। (तत्, संज्ञानं, ब्रह्म) वह (एकता बढ़ाने वाला) उत्तम ज्ञान (वः, गृहे, पुरुषेभ्यः, कृण्मः) तुम्हारे घर में मनुष्यों के लिये हम करते है।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्योअन्यस्मैवल्गुवदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

(अथर्ववेद ३।३०।५)

(ज्यायस्वन्तः) बड़ों का सम्मान करने वाले, (चित्तिनः) उत्तम चित्त वाले, (संराधयन्त.) सफलता प्राप्त करने वाला (स-धुरा चरन्तः) एक धुरे के नीचे काम करने वाले होकर (मा, वि यौष्ट) तुम (आपस में) विरोध न करो। (अन्यः, अन्यस्मै, वल्गु वदन्तः एत) एक दूसरे के साथ प्रेम से बोलते हुये आगे बढ़ो। (वः, सध्री चीनान्) तुमको मिलकर पुरुषार्थ करने वाला और (संमनसः, कृणोमि) एक मन वाला करता हूँ।

समानीप्रपा सहवोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारानाभिमिवाभितः॥

(अथर्ववेद ३।३०।६)

(प्रपा, समानी) तुम्हारा जल पीने का स्थान एक हो, (वः, अन्नभागः सह) तुम्हारा अन्न का भाग (भोजनशाला) भी साथ-साथ हो। (समाने, योक्त्रे, वः, सह, युनज्मि) एक ही जुये में

तुमको साथ-साथ जोड़ता हूँ। (सम्यञ्चः, अग्निं सपर्यत) मिल कर ईश्वर की पूजा करो। (अभितः नाभिं, अराः, इव) चारों ओर से जैसे पहिये की धुरी मे अरे जुड़े होते है॥

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेनसर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥

(अथर्ववेद ३।३०।७)

(सवननेन, वः, सर्वान्) सेवा भाव से, तुम सबको (सध्रीचीनान्, समनसः) मिल कर पुरुषार्थ करने और एक मन वाला (एकश्नुष्टीन्, कृणोमि) एक नेता की आज्ञा मे रहने वाला करता हूँ। (अमृत, रक्षमाणाः, देवाः, इव) अमृत की रक्षा करने वाले देवों के समान [साय, प्रातः, वः, सौमनसः, अस्तु] सायं और प्रातः तुम्हारे अच्छे मन हों।

मधुर-जीवन

जिह्वायाअग्रेमधु में जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥

[अथर्ववेद १।३४।२]

[मे, जिह्वाया, अग्रे, मधु] मेरी जिह्वा के अग्रभाग मे मधुरता हो। [जिह्वा, मूले, मधूलकम्] जिह्वा के मूल मे भी मिठास हो। [मम्, क्रतौ, इत, अह, असः] मेरे कर्म में [हे मधुरता !] निश्चय से रह, [मम, चित्तं, उपायसि] मेरे चित्त मे मधुरता बनी रहे।

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम् ।
वाचा वदामिमधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥

[अथर्ववेद १।३४।३]

(मे, निक्रमण, मधुमत्) मेरा आना मधुर हो, (मे, परायणम्, मधुमत् मेरा जाना (भी) मधुर हो, (वाचा, मधुमत्, वदामि)

वाणी से मधुर बोलता हूँ, (जिससे मैं) (मधु, संदृशः, भूयासम्) मधु के सदृश हो जाऊं अर्थात् मधुरता की मूर्ति बन जाऊँ।

निर्भीकता

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळमीद्वाकिमुत्रयः करन्ति।
खले न पर्षान् प्रतिहन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥
(ऋग्वेद १०।४१।१)

मैं, एक होने पर भी निर्भीक और (निष्पाळमी) अचल हूँ। दो या तीन (मेरा) क्या कर सकते हैं? खलो को तो बहुतों को मूसल की सदृश मार देती हूँ। ऐश्वर्य रहित शत्रु किस प्रकार मेरी निन्दा कर सकते हैं?

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ १॥

जैसे द्यौ और पृथिवी नहीं डरते [इसलिये] न रिष्यतः=नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी मत डर॥ १॥

यथा हश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ २॥

जैसे दिन और रात नहीं डरते [इसलिये] न रिष्यतः=नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी मत डर॥ २॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ ३॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र नहीं डरते [इसलिये] न रिष्यतः= नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी मत डर॥ ३॥

यथा ब्रह्म च न क्षत्रं च बिभीतो न रिष्यतः।
एवा मे प्राण मा बिभेः॥ ४॥

जैसे ब्रह्म और क्षत्र नहीं डरते [इसलिये] न रिष्यतः = नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी मत डर ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च विभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ५ ॥

जैसे सत्य और अनृत नहीं डरते [इसलिये] न रिष्यतः = नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी मत डर ॥ ५ ॥

यथा भूतं च भव्यं च विभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ६ ॥

जैसे भूत और भविष्य नहीं डरते [इसलिये] न रिष्यतः = नष्ट नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण तू भी मत डर ॥ ६ ॥

(अथर्ववेद २।१५।१–६)

सख्ये त इन्द्र वाजिनो माभेम शवसस्पते ।
त्वामभि प्रणोनमो जेतारमपराजितम् ॥

[ऋ० १।११।२]

हे इन्द्र ! आप [वाजिनः] बलवान, [शवसस्पते] शक्ति के स्वामी और [जेतारं, अपराजितं] विजयी और किसी से न पराजित होने वाले हैं। [ते, सख्य, माभेम्] तेरी मित्रता में हम [किसी से] न डरें [त्वा, अभि प्रणोनमः] आपको हम (इसीलिए) नमस्कार करते हैं।

यतोयतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥

(यजुर्वेद ३६।२२)

(यतः, यतः) जिस-जिस स्थान से (ईश्वर ! आप) (सं–ईहसे) चेष्टा करते हो (ततः, नः, अभयं, कुरु) उस (उस स्थान) से हमें निर्भीक करे। (नः, प्रजाभ्यः, शम्) हमें प्रजाओं से सुख हो और (नः, पशुभ्यः, अभयं) हमे पशुओं से निर्भयता प्राप्त हो।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावा पृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु ॥

(अथर्व० १९।१५।५)

हमे अन्तरिक्ष (अभयं, करति) अभयप्रद हो, ये दोनो द्यौ और पृथिवी निर्भीक करें। पीछे से अभय, सामने से अभय (उत्तरात्, अधरात्, अभयं, नः, अस्तु) ऊपर और नीचे से भी हम अभय हो।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवानः सर्वा आशा मममित्रं भवन्तु ॥

(अथर्व० १९।१५।६)

मित्र से अभय, शत्रु से अभय (ज्ञातात्, अभयं) ज्ञात (पदार्थों) से अभय और (यः, पुरः, अभयं) अज्ञात (पदार्थों) से भी अभय हो। हमे रात्रि में भी अभय और दिन मे भी अभय हो। (सर्वाः, आशाः, मम्, मित्रं, भवन्तु) सब दिशाओं मे रहने वाले हमारे मित्र होवे।

साम्यवाद

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते सं भ्रातरोवावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा प्रश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥

(ऋग्वेद ५।६०।५)

(मनुष्यों मे कोई) अज्येष्ठासः = बड़ा नहीं है। (अकनिष्ठास) न कोई छोटा है। (एते, भ्रातर) ये सब भाई-भाई हैं। (सौभगाय, सं वावृधु) सौभाग्य = भविष्य उन्नत करने के लिये, मिल कर आगे बढ़े। (युवा, पिता) श्रेष्ठ (सबकी) रक्षा करने वाला = सबका पिता (स्वपा, रुद्र) उत्तम कर्मशील ईश्वर है। (एषां) इनके लिए (सुदुघा) उत्तम दूध देने वाली [माता] प्रश्निः = भूमि है। [जो]

मरुद्भ्यः=न रोने वालो के लिये [सु दिना] अच्छे दिन=अच्छा समय देती है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजगुप्सते ॥

(यजु० ४०।६)

जो कोई सब प्राणियों को परमात्मा मे, और सब प्राणियों मे परमात्मा को, देखता है तो इससे वह निन्दित नहीं होता।

ईश्वर माता पिता और सखा सब कुछ है

त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ ।
अथाते सुम्नमीमहे ॥

(सामवेद ३०४।२।१३)

हे वसो=सब मे वास करने वाले (सर्व व्यापक), शतक्रतः=(जगत की उत्पत्ति प्रलय आदि) असख्य कर्म करनेवाले परमेश्वर! आप ही हमारे माता पिता है। (अथ, सुम्नम्, ईमहे) इसलिये हम (आपसे) सुख की याचना करते हैं।

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥

(ऋ० १।१।९)

हे अग्ने=तेजस्वी ईश्वर! (सूनवे, पिता, इव) पुत्र के लिये पिता की तरह, (नः, सु, उप, आयनः) हमको उत्तम प्रकार से (आप) प्राप्त (भव) हो। (नः, स्वस्तये, सचस्व) और हमारे कल्याण के लिये (हमारे) साथ रहें।

आ हि ष्मा सूनवे पितापिर्यजत्यापये । सखा सखे वरेण्यः ॥

(ऋ० १।२६।३)

(हि) जैसे (पिता, सूनवे) पिता पुत्र को, (आयजति) सहायता देता है, (आपिः, आपये) बन्धु बन्धु की, (वरेण्यः, सखा)

श्रेष्ठ मित्र (सख्ये) मित्र की (सहायता करता है) (इसी प्रकार ईश्वर !) (अस्म) तू मेरी सहायता कर।

"ऋग्वेद का श्रद्धासूक्त"

श्रद्धयाग्निः समिध्यते-श्रद्धया हूयतेहविः।
श्रद्धांभगस्य मूर्धनि वचसा वदयामसि॥

(ऋ० १०।१५१।१)

श्रद्धा से अग्नि प्रज्वलित की जाती है, श्रद्धा से हवि से (हूयते) हवन किया जाता है, (भगस्य, मूर्धनि) ऐश्वर्य के शिखर (अर्थात् ऐश्वर्य का कारण) श्रद्धा को (वचसा, वेदयामसि) प्रशंसा के साथ मानते हैं।

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धेदिदासतः।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि॥

(ऋ० १०।१५१ २)

श्रद्धे ! (ददतः, प्रियं) दान देने वाले का प्रियकर, श्रद्धे ! (दिदासतः) देने की इच्छा करने वाले का प्रियकर, (भोजेषु, यज्वसु) (श्रद्धा के साथ) भोग और यज्ञ करने वालों का प्रियकर, (इदं, मे) यह मेरा (कार्य्य) (उदितं, कृधि) उदित कर=पूरा कर।

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि॥

(ऋ० १०।१५१।३)

जैसे देव, (उग्रेषु असुरेषु) तेजस्वी असुरों=प्राण अर्पण करने वालों मे (श्रद्धां चक्रिरे) श्रद्धा करते हैं, इसी प्रकार भोग और यज्ञ करने वालों में, हम सबको उदित=प्रकाशित कर।

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥

(ऋ० १०।१५१।४)

(देवाः यजमानाः) दिव्य यजमान श्रद्धा को (प्राप्त होते है), वायुः गोपा=प्राणायाम करनेवाले (योगी) (श्रद्धा से) उपासना करते हैं, (हृदय्यया, आकूत्या)=हृदय के उच्च भाव से श्रद्धा (प्राप्त होती है) (श्रद्धया, वसु, विन्दते) श्रद्धा से धन प्राप्त होता है।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यं दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेहनः ॥

(ऋ० १०।१५१।५)

प्रातःकाल श्रद्धा को आवाहन करते हैं, मध्य दिन और सूर्य के (निम्रुचि) अस्त समय मे भी (श्रद्धा का आवाहन करते है) हे श्रद्धे ! (नः, श्रद्धापयेह) हम सबको श्रद्धा से युक्त कर ।

पुरुषार्थ करो ! आगे बढ़ो !!

उत्क्रामातः पुरुषमाव पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः ।
माच्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः ॥

(अथर्व० ८।१।४)

हे पुरुष ! (अतः, उत्क्राम्) इससे आगे बढ़ । (मा, अव, पत्था) नीचे मत गिर । (मृत्योः, पड्वीशं, अवमुञ्चमानः) मृत्यु के पाश को तोड़ता हुआ (आगे बढ़) । (अस्मात्, लोकात्) इस लोक से और (अग्नेः, सूर्यस्य, सन्दृशः) अग्नि तथा सूर्य के सम्मुखता से (मा, च्छित्थाः) मत अलग हो ।

उद्यानं ते पुरुषनावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आरोहेममममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमावदासि ॥

(अथर्व० ८।१।६)

हे पुरुष ! (ते, उत्, यानं) तेरी उन्नति हो, (न, अवयानं) गिरावट न हो, (ते, जीवातु) तेरे जीवन के लिये (दक्षताति) दक्षता का वल (कृणोमि) देता हूँ। (इमं, अमृत, सुखं, रथं) इस अमृतमय सुख देनेवाले रथ (रूपी शरीर) पर (आरोह) चढ़। (जिर्विः, विदथं, आवदासि) जीवन और वल (तुझे) देता हूँ।

नोट—सुखम्=सु=अच्छी+खम्=इन्द्रियाँ अर्थात् अच्छी इन्द्रियाँ वनाना सुख और इन्द्रियों को बुरा वनाना (दु+खम्) दुख है।

अग्नि और सूर्य के प्रकाश से लाभ

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्वन्ता रक्षतुत्वामनुष्यायमिन्धते।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्रधाग विद्युतासह॥

(अथर्व० ८।१।११)

जो अग्नि जलों मे है, तेरी रक्षा करे। जिस (अग्नि) को मनुष्य प्रज्वलित करते हैं, वह तेरी रक्षा करे। (जातवेद, वैश्वानरः) मनुष्य शरीरों मे रहनेवाली अग्नि तेरी रक्षा करे। (विद्युता सह) विद्युत के साथ रहने वाली (दिव्य., मा, प्रधाग) द्युलोक की अग्नि तुझे न जलावे।

भावार्थ—मंत्र का भाव स्पष्ट है। हमें जल की उष्णता, वाह्य अग्नि, और विद्युताग्नि से जहाँ लाभ उठाना चाहिये वहाँ शरीर के भीतर की अग्नि की वृद्धि करते हुए उससे जीवन शक्ति की वृद्धि करनी चाहिये।

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यत।
उद्यन्त् सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आददे॥

(अथर्व० ७।१३।२)

(सपत्नानां, यावन्तः) शत्रुओं में से जितने (मां, आयन्तं, प्रतिपश्यत) मुझे आते हुए देखते हैं उन (द्विषतां, वर्चः, आददे) शत्रुओं

का तेज मैं (उसी प्रकार) ले लेता हूँ (इव) जैसे (उद्यन्त, सूर्य, सुप्तानां) उदय होता हुआ सूर्य सोते हुओ के (तेज को हर लेता है) ।

अर्थात् जो लोग सूर्य के उदय होते समय तक सोते रहते है, उदय होता हुआ सूर्य उनके तेज को ले लिया करता है और वे पुरुष तेजहीन हो जाया करते हैं। परन्तु जो समय पर उठ कर उदय होते हुए सूर्य की किरणों को अपनी छाती और आँखो मे लिया करते है, उनके ये अवयव नीरोग और पुष्ट हो जाया करते हैं।

शक्ति की प्राप्ति

तेजोऽसि तेजोमयिधेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयिधेहि। बलमसि बलं मेधेहि। ओजोऽस्योजो मयिधेहि। मन्युरसि मन्युं मयिधेहि। सहोऽसि सहो मयिधेहि॥

(यजुर्वेद १९।९)

हे परमात्मन्! आप तेजस्वी है, मुझमें भी तेज देवे। आप वीर्यवान हैं, मुझे भी वीर्य देवें। आप बलवान हैं, मुझे भी बली बनावें। आप समर्थ हैं, मुझे भी सामर्थ्य प्रदान करे। आप (दुष्टों पर, दमनार्थ) क्रोध करते हैं, मुझे भी यह शक्ति देवे। आप सहनशील हैं, मुझे भी सहनशीलता प्रदान करे।

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा॥ १॥ सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा॥ २॥ बलमसि बलं मे दाः स्वाहा॥ ३॥ आयुरस्यायुर्मेदाः स्वाहा॥ ४॥ श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा॥ ५॥ चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा॥ ६॥ परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा॥ ७॥

(अथर्व० २।१७।१-७)

हे परमात्मन्! आप समर्थ, सहनशील, बलवान, जीवन शक्ति, श्रोत्र शक्ति, चक्षु=द्रष्टा, (परिपाणम्) सर्व शक्ति युक्त हैं, मुझे भी

इन शक्तियों से युक्त करें। स्वाहा=स्व, आ, हा=स्वार्थ का पूर्णतया त्याग करता हूँ।

सब कुछ ईश्वर के अर्पण

मानो निदे च वक्तवेऽर्योरन्धीरराव्णे । त्वे अपि क्रतुर्मम् ॥

(ऋग्वेद ७।३१।५)

हे (अर्यः) श्रेष्ठ स्वामिन् ! (निदे) निन्दक, (वक्तवे, च) वातून और (अराव्णः) दान रहित (नः) हमे (मा, रन्धीः) न करें। (मम, क्रतुः) मेरे कर्म (त्वे, अपि) आप ही के लिये हो।

इन्द्रियों की चंचलता

वि मे कर्णा पतयतो विचक्षुर्वी इदंज्योतिर्हृदय आहितं यत् ।
वि मे मनश्चरति दूर आधीः किं स्विद्वक्ष्यामि किमुनूमनिष्ये ॥

(ऋग्वेद ६।९।६)

(मे, कर्णौ, वि, पतयतः) मेरे दोनों कान इधर-उधर भाग रहे हैं, (चक्षु, वि) आँखें भी (इधर-उधर जा रही हैं), (हृदये, यत्, इदं, ज्योतिः) हृदय में जो यह (आत्म) ज्योति है (वि, आहित) बुझ सी रही है। (दूरे, आधीः, मे, मनः, विचरति) अत्यन्त दूर के विषय मे लग कर मेरा मन, दूर-दूर जा रहा है। (कि स्वित् वक्ष्यामि) (ऐसी दशा होने पर) मैं क्या कहूँ और (किमु, नू, मनिष्ये) क्या चिन्तन करूँ ? स्पष्ट है कि इन्द्रियों के चंचल हो जाने पर मनुष्य की दशा दयनीय ही हो जाती है।

आत्मविश्वास

स्वर्यन्तो नाऽपेक्षन्त आद्यां रोहन्तिरोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥

(अथर्ववेद ४।१४।४)

(ये) जो (सु-विद्वांसः) उत्तम विद्वान (विश्वतोधारं, यज्ञं) विश्व के धारण करने योग्य कर्मों को (वि-तेनिरे) विशेष रीति से फैलाते है (रोदसी, आद्यां, रोहन्ति) वे दोनों लोकों से ऊपर होते हुये प्रकाश मय धाम = ब्रह्म लोक को चढ़ते है। (स्वः यन्तः) अपने (तेज) को फैलाने मे (न, अपेक्षन्त) अन्यों की अपेक्षा नहीं करते हैं।

राष्ट्र के कल्याण की प्रार्थना

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो वह्मवर्चसीजायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथोजयताम्। दोग्ध्रीधेनुर्वोढाऽनड्वानाशु सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयोयुवाऽस्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु। फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ (यजुर्वेद २२।२२)

हे (ब्रह्मन्) महान् ईश्वर ! (राष्ट्रे, ब्रह्मवर्चसी, ब्राह्मणः आजायताम्) राष्ट्र मे तेजस्वी ब्राह्मण उत्पन्न हों। (शूरः, इषव्यः) बहादुर, वाण विद्या मे निपुण, (अति व्याधी) (दुष्टों को) दमन करने वाले (महारथः) महारथी (राजन्यः, जायताम्) क्षत्री उत्पन्न हो। (दोग्ध्री, धेनुः) दूध देने वाली गायें, (वोढा, अनड्वान) भार उठाने वाले बैल (आशुः, सप्तो) तेज चलने वाले घोड़े, (अस्य, यजमानस्य) इस यजमान के, (वीरः) वीर, (युवा, सभेयः) युवा और सभा कार्य्ये मे चतुर (रथेष्ठाः) रथी, (जिष्णुः) विजयता, (पुत्र), तथा (पुरन्धिः) व्यवहार कुशल (योषा) स्त्रियाँ (आजायताम्) सब ओर उत्पन्न हों। (निकामे, निकामे) अपेक्षित समय पर, (नः पर्जन्यः, वर्षतु) हमारे लिये बादल वर्षा करते रहें। (नः, ओषधयः) हमारी ओषधियाँ (फलवत्यः, पच्यन्ताम्) फलवाली होकर पक्के। (नः, योगक्षेमः, कल्पताम्) हमारा योगक्षेम होता रहे।

अथर्ववेद का अतिथिसूक्त

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥१॥ पयश्चवा एष रसं च० ॥२॥ ऊर्जां च वा एव स्फातिं च० ॥ ३ ॥ प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥ ४ ॥ कीर्तिं च वा एष, यशश्च० ॥ ५ ॥ श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथे रश्नाति ॥ ६ ॥

(अथर्ववेद ९।६।१।६)

(य., अतिथे., पूर्वः अश्नाति) जो अतिथि से पहले भोजन करता है वह घरों के इष्ट=यज्ञ और पूर्त=स्मार्त कर्म (कुआँ बनाना आदि) को ॥ १ ॥, दूध और रस को ॥ २ ॥, पराक्रम और (स्फातिं) समृद्धि को ॥ ३ ॥, प्रजा और पशु ॥ ४ ॥, कीर्ति और यश ॥ ५ ॥, और श्री और संविद) ज्ञान को ॥ ६ ॥ खाता है।

एषवा अतिथिर्यच्छ्रोत्रि अस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

यह निश्चय से अतिथि है जो श्रोत्रिय है, इसलिये इससे पूर्व भोजन न करे ॥ ७ ॥

अशिता वत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्य विच्छेदाय तद् व्रतम् ॥

(अथर्व० ९।६।३, ।८)

(अशितौ, अतिथौ) अतिथि के भोजन करने के बाद (अश्नीयात्) भोजन करे (यज्ञस्य) यज्ञ के (सात्मत्वाय) जीवन अर्थात् यज्ञ के जारी रहने और (अविच्छेदाय) उसके भंग न होने देने के लिये (तत्, व्रतम्) यह नियम है।

———

राजा को सोलहवाँ भाग कर लेना चाहिये

यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशंयमस्यामि सभासदः।
अविस्तस्मात्प्रमुंचति दत्तः शिति पात स्वधा ॥

(अथर्व० ३।२९।१)

(यमस्य) नियम पालक (राजानः) राजा के (अमी, सभासदः) ये सभासद, (इष्टा-पूर्तस्य, षोडशं) इष्ट की पूर्ति (के लिये जो आय की जावे उस) का सोलहवाँ भाग, (विभजन्ते) विभक्त करते हैं। (दत्तः, स्वधा) दिया हुआ (यह सोलहवाँ) (राजा का) भाग (अविः) रक्षा के लिये होता है और (शितिपात्) हानि. से (प्रमुञ्चति) छुड़ा=बचा देता है।

भावार्थ—भाव मंत्र का साफ है। राजा को प्रजा से आय का सोलहवाँ भाग कर, प्रजा की रक्षा और उसे हानियों से बचाने के लिये लेना चाहिये।

———

शासक अत्याचारी नहीं होना चाहिये

रक्षा मा किनो अघशंस ईशत मानो दुःशंस ईशत।
मा नो अद्यगवांस्तेनो माऽवीनां वृक ईशत ॥

(अथर्व० १९।४७।६)

(रक्ष) रक्षा करो कि (किः अघशंसः) कोई पापी (मा ईशत) शासक न बने (नो, दुःशंस ईशत) न कोई दुराचारी (हम पर) शासन कर सके। (गवांस्तेनः) गाय बैल की चोरी करने वाला और (अवीनां वृकः) बकरियों का भेड़िया अर्थात गरीबों पर अत्याचार करने वाला (भी स्वामी न बने)।

———

नासदीय सूक्त

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परोयत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम् ॥

(ऋग्वेद १०।१२९।१)

(तदानीं) उस समय (प्रलयावस्था में) (न, असत्, आसीत्) न असत्=स्थूल जगत था (नः, सत्, आसीत्) न सत्=सूक्ष्म जगत=सूक्ष्म भूत था। (रजः, न आसीत्) न अन्तरिक्ष था (तत्, परः, व्योमा, नः) जो पर आकाश है, नहीं था। (उस समय) कुह= कहाँ (किम्) क्या (आवरीवः) ढका हुआ था ? (कस्य, शर्मन्) किसके आश्रय (सुख) के लिये ? (गहनं, गम्भीरम्) अगाध और गहन (अंभः) अंभ=पञ्चभूतों का समीपवर्ती कारण (किम्) कहाँ था ?

भावार्थ—कारण प्रकृति के सिवा, उसका कोई भी विकृत रूप महाप्रलयावस्था में नहीं था। पञ्चभूतों के प्रादुर्भूत होने से पहले जो उनका निकटवर्ती कारण होता है उसे अंभ या जल कहते है।

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधयातदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास ॥

(ऋ० १०।१२९।२)

(तर्हि) उस समय (मृत्युः, न, आसीत्) मृत्यु नहीं था, (अमृत, न) न अमृत (था)। (रात्र्याः, अह्नः) रात और दिन का (प्रकेतः, न आसीत्) ज्ञान (चिह्न) नहीं था। (तत्, एकम्) वह एक (पुरुष) स्वधया=प्रकृति के साथ (अ-वातं) विना वायु के (आनीत्) प्राण रूप मे (स्फूर्तिमान) था। (तस्मात्, अन्यत्) उससे भिन्न (ह) निश्चय से (किंचन, परः, न, आस) कुछ भी नहीं था।

भावार्थ—एकम् शब्द पुरुष वाचक है। पुरुष में आत्मा और परमात्मा दोनों समाविष्ट हैं। सायणाचार्य्य ने स्वधा के अर्थ माया किये हैं। माया

प्रकृति को कहते है (माया तु प्रकृतिंविद्धि । श्वेताश्वेतरोपनिषद्) । इसलिए सुधा शब्द प्रकृति वाचक है । मंत्र का भाव यह है कि ईश्वर, जीव और प्रकृति के सिवा कार्य्य जगत कुछ भी नहीं था ।

तमासीत्तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनाभूवपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥

[ऋ० १०।१२९।३]

अग्रे = जगदोत्पत्ति से पहले प्रलयावस्था में, (तमसा गूढं) अन्धकार से व्यापी हुई (तमः, आसीत्) प्रकृति थी (इदं, सर्वं) यह सब (जगत) (अप्रकेतम्) चिह्न रहित (सलिलं) जल = पञ्चभूतों के निकटवर्ती कारण रूप मे (था) । (यत्) जो (आभु) प्रकृति, (तुच्छयेन, अपिहितं, आसीत्) शून्यता = कार्य रहितता से ढकी हुई थी [तत्] वह [तपसः महिना] तप = ईक्षण [ईश्वर की जगदोपत्ति करने की स्वाभाविक दिव्य इच्छा] के महत्व से [एकं] प्रकृति [जायत्] विकृत [= कार्य्य रूप मे प्रकट] हुई ।

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतोवन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

[ऋ० १०।१२९।४]

[अग्रे] प्रारम्भ [प्रलयावस्था] में [मनसः, रेतः] मन [आदि अन्तःकरणों] का कारण [यत्, प्रथमं, आसीत्] जो पहले [प्रकृति रूप में] था [तत, अधि] उस पर [कामः] ईक्षण [संवर्तत] हुआ अर्थात् दिव्य ईक्षण ने काम करके उस गतिशून्य प्रकृति मे गति का संचार किया । [कवयः] ज्ञानी पुरुषों ने [हृदि] हृदय में [मनीषा] बुद्धि से [प्रतीष्य] ढूँढ = विचार कर [निर-अविंदन्] जान लिया कि [असीत] अव्यक्त = कारण रूप प्रकृति में [सतः] व्यक्त = कार्य्य रूप प्रकृति का [बन्धु] भाईपन है ।

भावार्थ—प्रकृति में ईक्षण अर्थात ईश्वर प्रदत्त गति से, जिसे वैज्ञानिक गतिशक्ति [Energy] कहते हैं, आदोलन होकर वह कार्य्य रूप में परि-

वर्तित हो जाया करती है, इस सिद्धान्त को बुद्धिमान जानते हैं। मंत्रान्त में कारण प्रकृति और कार्य जगत में भाई होने का सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। प्रकृति तो साक्षात् नित्य है ही परन्तु कार्य्य जगत भी प्रवाह से नित्य है। इस प्रकार दोनों के नित्य होने से, उनमें भाई-भाई ही का सम्बन्ध हो सकता था, पिता पुत्र का नहीं।

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥

[ऋ० १०।१२९।५]

[एषां] इन [तीनों = ईश्वर, जीव और प्रकृति] की [रश्मिः] किरण [तिरश्चीनः, विततः] तिरछी फैली हैं। [अधः, स्थित, आसीत्] नीचे भी थीं और [उपरि, स्वित, आसीत्] ऊपर भी थीं। [रेतोधाः) वीर्यधारक [जीव] [आसन्] थे और [महिमानः, आसन्] वे महान थे। [अवस्तात्, स्वधा] इधर प्रकृति थी [परस्तात्, प्रयतिः] परे प्रयत्न [ईक्षण का बल] था।

भावार्थ—प्रकृति जब कार्य रूप में परिवर्तित हुई तो उस परिवर्तन के हेतु तीनों ईश्वर, जीव और प्रकृति थे। मंत्र में 'एषा' शब्द इनके लिये बहुवचन के रूप में है जिसका अभिप्राय यह है कि वह कम से कम तीन वस्तुओं के लिये प्रयुक्त हुआ है।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाताकुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥

[ऋ० १०।१२९।६]

[अद्धाः, कः वेद] यथार्थ कौन जानता है [क, इह, प्रवोचत्] कौन यहाँ कह सकता है कि [यह सृष्टि] [कुतः, आजाता] कहाँ से बनी [कुतः, इयं, विसृष्टिः] और कहाँ से यह विविध प्रकार की सृष्टि हुई। [अस्य, विसर्जनेन] इसकी उत्पत्ति के [अर्वाक्] बाद [देवाः] देव [उत्पन्न हुये हैं] [अथ, कः, वेद] इसलिये कौन जानता है कि [यतः आबभूव] जिससे [यह जगत] बना।

अर्थात् सृष्टि बनने का यथार्थ ज्ञान मनुष्यों को नहीं हो सकता; क्योंकि यह सब सृष्टि उत्पन्न हो जाने के बाद उत्पन्न हुये हैं।

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदिवादधे यदि वा न।
योऽस्याऽध्यक्षः परमेव्योमन्त्सो अंगवेद यदि वा न वेद॥
(ऋग्वेद १०।१२९।७)

(यतः, इयं, विसृष्टिः) जिससे यह विविध प्रकार की सृष्टि (आबभूव) उत्पन्न हुई (यदि, वा, दधे, यदि, वा, न) वह इसे धारण करता है या नहीं। (परमे, व्योमन्) असीम आकाश मे (अस्य, यः अध्यक्षः) इसका जो अधिष्ठाता है (सः, अंग, वेद, यदि, वा, न) वही जानता होगा तो जानता होगा।

अथर्ववेद का मृत्यु सूक्त

यमोदनं प्रथम जा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसाब्रह्मणेऽपचत्।
यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषातेनोदनेनाति तराणिमृत्युम्॥
(अथर्ववेद ४।३५।१)

(ऋतस्य प्रथमजाः, प्रजापतिः) ऋत के प्रथम प्रवर्तक प्रजापति ने (तपसा) तप से (यं, ओदनं) जिस (प्रकृति रूप) ओदन को (ब्रह्मणे, अपचत) जीव के लिये पकाया। (अर्थात् प्रकृति को कारण से कार्य मे परिवर्तित किया)। (यः लोकानां, विधृतिः) जो लोकों का विशेष धारण कर्त्ता और (नाभिः) केन्द्र है और (जो कभी किसी को) (न, अभिरेपात्) हानि नहीं पहुँचाता (तेन, ओदनेन) उसके (प्रकृति रूप) ओदन=अन्न (के तत्त्वज्ञान) से (मृत्युं, अति तराणि) मृत्यु को पार करूँ।

भाव इसका यह है कि मृत्यु को पार करने, उसके बंधन से छूटने के लिये तत्त्वज्ञानी बनना आवश्यक है।

येनातरन्भूत कृतोऽतिमृत्युंयमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण ।
यं पपाचब्रह्मणे ब्रह्मपूर्वं तेनौदने नीति तराणि मृत्युम् ॥

(अथर्ववेद ४।३५।२)

(येन) जिससे (भूत-कृतः) भूतों को बनाने वाले (मृत्युं--अति-तरन्) मृत्यु के पार हो गये, (यं, तपसा, श्रमेण, अन्वविन्दन्) जिसको तप और श्रम से प्राप्त किया और (यं, पूर्वं, ब्रह्म, ब्रह्मणे, पपाच) जिसका पहले ब्रह्म=प्रजापति ने ब्रह्म=जीव के लिये पकाया था (तेन, ओदनेन, अति, तराणि, मृत्युम्) उसके ओदन (तत्त्वज्ञान) से मृत्यु को पार करूँ ।

योदाधारप्रथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद्रसेन ।
यो अस्तभ्नाद्दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदने नाति तराणिमृत्युम् ॥

(अथर्ववेद ४।३५।३)

(यः विश्वभोजसं पृथिवीं, दाधार) जो सबको भोजन देने वाली पृथिवी का धारण करने वाला है (यः, रसेन, अन्तरिक्षं, आपृणात्) जो रस (जल) से अन्तरिक्ष को भर देता है (यः, महिम्ना, ऊर्ध्वः, दिवं, अस्तभ्नात्) जो अपनी महिमा से ऊपर द्युलोक को धारण किये हुये है, उसके ओदन (प्रकृति के ज्ञान) से मृत्यु को पार करूँ ।

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः सवत्सरो यस्मान्निर्मितोद्वादशारः ।
अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्ते नौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥

(अथर्ववेद ४।३५।४)

यस्मात्=जिससे [त्रिंशत, अराः, मासाः, निः—मिताः] तीस [दिन रूपी] अरों वाले महीने बने हैं, [यस्मात्, द्वादश–अरः, संवत्सरः, निः, मितः] जिससे बारह अरों [महीने] वाला वर्ष बना है, [परियन्तः अहोरात्राः यं, न आपुः] गुजरते हुये दिन रात जिसको प्राप्त नहीं कर सकते [तेन०] उसके अन्न से मैं मृत्यु को पार करूँ ।

यः प्राणदः प्राण दवान्बभूव यस्मैलोका घृतवन्तः क्षरन्ति ।
ज्योतिष्मतीः प्रदिशोयस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणिमृत्युम् ॥

(अथर्ववेद ४।३५।५)

[यः प्राणदः] जो जीवन दाता [प्राण-द-वान् बभूव] प्राण के दाताओं का स्वामी हुआ है [यस्मै, घृतवन्तः लोकाः, क्षरन्ति] जिसके लिये घृत=जल वाले लोक जल देते है, [यस्य, सर्वाः, प्रदिशः, ज्योतिष्मतीः] जिसकी समस्त दिशाये तेज वाली है [तेन०] उस [प्रजापति] के अन्न [प्रकृति] के ज्ञान से मैं मृत्यु को पार करूं ।

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूवयो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव ।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदने नाति तराणिमृत्युम् ॥

(अथर्ववेद ४।३५।६)

[यस्मात्, पक्वात्, अमृत, सबभूव] जिस परिपक्व [पूर्ण ज्ञानी] से अमृत उत्पन्न हुआ । [यः, गायत्र्याः, अधिपतिः, बभूव] जो गायत्री का अधिपति हुआ अर्थात् जिसकी प्राप्ति के लिये गायत्री का जप किया जाता है, [यस्मिन्, विश्वरूपाः, वेदाः, निहिताः] जिसमे सब प्रकार का ज्ञान निहित है [तेन०] उसके [प्रजापति के प्रकृति रूपी] अन्न [के ज्ञान] से मैं मृत्यु को पार करूँ ।

अववाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽपतेभवन्तु ।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्धानस्य देवाः ॥

(अथर्ववेद ४।३५।७)

(देव, पीयुं, द्विषन्तं, अववाधे) देवत्व के नाशक शत्रुओं को मैं हटाता हूँ (ये, मे, सपत्नाः, ते, अप, भवन्तु) जो मेरे शत्रु हैं वे दूर होवें । (विश्व, जितं, ब्रह्मौदनं, पचामि) विश्वजित ओदन (ज्ञान) को मैं पचाता हूँ । (देवाः, श्रद्धानस्य, मे, शृण्वन्तु) श्रद्धा रखने वाले देव=विद्वान् मेरी बात सुने ।

भावार्थ—जो परमात्मा को जान लेता और उसकी प्रकट की हुई प्रकृति

का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लिया करता है, उसके संसार में कोई शत्रु बाक़ी नहीं रहा करते और वह मौत के बन्धन से भी छूट जाता है।

मस्तिष्क और हृदय में मेल

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कात् ऊर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः॥

(अथर्ववेद १०।२।२६)

वह (पवमानः, अथर्वा) पवित्र और एक रस रहने वाला परमात्मा, (अस्य) इस (मनुष्य) के (मूर्धानम्) मस्तिष्क (च, यत्, हृदयं) और जो (उसका) हृदय है, (उन्हें) (संसीव्य) सीकर= मिलाकर (जगत मे भेजे) जिससे वह (मस्तिष्कात्, ऊर्ध्वः) मस्तिष्क=तर्क से ऊपर और (शीर्षतः, अधि) शिर से नीचे (हृदय मे) होकर (प्रैरयत्) बाहर (जगत मे) आवे=काम करे।

भावार्थ—मस्तिष्क का काम तर्क और हृदय का काम श्रद्धा, विश्वास और प्रेम है। जब मस्तिष्क और हृदय मिले रहते हैं तब तर्क और विश्वास दोनों की उपयोगिता हुआ करती है। श्रद्धा तर्क के बाद अथवा तर्क से ऊपर की वस्तु है। तर्क से मनुष्य को सत्यासत्य का निर्णय करके श्रद्धा से उसे ग्रहण कर लेना चाहिये। तभी उसकी उपयोगिता होती है। इसीलिये मत्र में तर्क से ऊपर होकर हृदय मे आने का उपदेश दिया गया है।

धर्म और विज्ञान

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचिव्याहृतायामन्धोऽच्छेत्तः।
सविता सन्यां विश्वकर्म्मा दीक्षायाम्पूषा सोम क्रयण्याम्॥

(यजुर्वेद ८।५४)

[परमेष्ठी, प्रजापतिः] प्रणव=ओम् परमात्मा, [व्याहृतायां, वाचि] व्याहृति=भूर्भुवः स्वः वाचक=सच्चिदानन्द [सविता,

सन्यां=सत्यां] गतिदाता [Importer of motion to all motion], (दीत्ता=धीत्ता बुद्धिर्यत्र भिवसति) विश्वकर्मा [Designer of the plan] रचना से पहले जगत के आकार-प्रकार का ज्ञाता [पूषा] पोषक [अन्धः=न विद्यते ध्यानं यत्र, यत्र स्वाभाविकी ज्ञानबलं क्रिया च]=अनिच्छित सामर्थ्य=Involuntary force [अभिधीतः=उपासनायां सन्धीयते] धारण [सोम क्रयण्यां] योगाभ्यास से [अच्छेतः=निर्मलं स्वरूपमितः प्राप्तः] प्राप्त। अर्थात् वह ओम् परमात्मा, सच्चिदानन्द सविता, गतिदाता, बुद्धि की पहुँच से परे, विश्वकर्मा, पोपक सुविचार से धारण और योगाभ्यास से प्राप्त होता है।

नोट—धर्म और विज्ञान की एकता और परस्पर एक दूसरे के सहायक होने का विचार सच्चिदानन्द से प्रकट होता है:—

[१] सत्=प्राकृतिक विकास=Material manufestation.

[२] चित्=चेतना विकास=Spiritual manufestation.

[३] आनन्द=Harmonious manufestation.

प्राकृतिक विकास का विवरण देने वाला ज्ञान विज्ञान है तथा चेतना [आत्मिक] विकास के नियम बतलाना धर्म का काम है। आनन्द-दोनों में मेल रखने के नियम को कहते हैं। ईश्वर का नाम सच्चिदानन्द इसीलिये है कि वह प्राकृतिक तथा आत्मिक जगत में मेल रखता है।

हवन से रोग-जन्तुओं का नाश

विद्मवैते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥

[अथर्व० ७।७६।५]

हे (जायान्य) स्त्री से उत्पन्न होने वाले (क्षयरोग)! (यतः, जायसे) जहाँ से तू उत्पन्न होता है [ते, जानं, विद्म, वै] तेज राम

हम जानते हैं। [त्वं, तत्र, कथं, हनः] तू वहाँ किस प्रकार मारा जाता है [यस्य, गृहे, हविः, कृणमः] जिसके घर में हम हवन करते हैं।

अर्थात हवन से रोगोत्पादक जन्तु नष्ट हो जाते है। शतपथ ब्राह्मण मे इसीलिये (अग्नि रक्षसा अपहन्ता) अग्नि को राक्षसों = रोगाणुओं का नाशक कहा गया है।

वेद में लोहे आदि की चर्चा

१—अश्मा च मे २—मृत्तिका च मे ३—गिरयश्च मे ४—पर्वताश्च मे ५—सिकताश्च मे ६—वनस्पतयश्च मे ७—हिरण्यं च मे ८—ऽयश्च मे ९—श्यामं च मे १०—लोहं च मे ११—सीसं च मे १२—त्रपु च मे यज्ञेनकल्पन्ताम् ॥

[यजु० १८।१३]

मेरे १—पत्थर, २—मिट्टी, ३—बादल, ४—पर्वत, ५—बालू, ६—वनस्पति, ७—सोना, ८—अयः=फौलाद, ९—काला रंग, १०—लोहा, ११—सीसा, १२—जरता यज्ञ=उत्तम कार्य्य मे [कल्पन्ताम्] लगें।

सीसे की गोली

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसौ अवीरहा ॥

[अथर्व० १।१६।४]

यदि हमारी गाय को, घोड़े को और आदमी को तू मारता है (तं, त्वा) तो तुझको [सीसेन, विध्यामः] सीसे [की गोली] से हम बींध देंगे [यथा] जिससे तू [नः अ—वीर हा असः] हमारे वीरों का नाशक न हो सके।

सीसा याध्याह वरुणः सीसायाग्नि रूपावति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातु चातनम् ॥

[अथर्व० १।१६।२]

वरुण ने सीसे के विषय में [अध्याह] कहा है, अग्नि सीसे को [उपावति] रक्षक कहता है, इन्द्र ने तो [मे, प्रायच्छत्] मुझे सीसा दिया है। हे [अंग] प्रिय ! [तत्, यातु चातनम्] वह [सीसा] डाकू को हटा देनेवाला है।

अर्थात सीसे की गोली बनाने की विधि मुझे वरुण ने बतलाई है, अग्नि (सेनापति) इस गोली का प्रयोग करता है। मुझे यह गोली हिंसकों का नाश करने के लिये इन्द ने दी है।

देवों की अयोध्यापुरी

अष्टा चक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्यः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

[अथर्व० १०।२।३१]

आठ चक्र और नौ द्वार वाली देवों की पुरी अयोध्या = मनुष्य शरीर है। उसमे सुवर्णमय कोष है। वही प्रकाश से आवृत स्वर्ग (जीवात्मा के रहने का स्थान हृदयाकाश) है। अयोध्या जहाँ युद्ध आदि न हों और शान्त स्थान हो। गुहाकाश को इसीलिये अयोध्या कहा गया है।

धातु की जंघा बनाने का विधान

(शल्य = Surgery)

चरित्रं हि पेरि वाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम् ।
सद्यो जङ्घा मायसीं विश्पलायै धनेहिते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम् ॥

(ऋ० १।११६।१५)

(आजा) युद्ध में या (खेलस्य) खेल के कारण (परितक्म्यायां) बीमारी में (चरित्रं) चलने का साधन (पैर) हि = निश्चय (अच्छेदि) टूट गया है। (हे अश्वियो = चिकित्सको !) (सद्यः) तत्काल (विश्पलायै) भागने या भगाने के लिये (धने) युद्ध या धन के लिये (हिते, सर्त्तवे) हित साधन के कार्य में (चलने के लिये) (आयसी) लोह (आदि धातु) की बनी (जङ्घां) जङ्घा (प्रति, अधत्तम्) फिर से लगा दे (वेः, पर्णम् + इव) पक्षी के पक्ष की तरह।

आवागवन-पुनर्जन्म

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्, पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्, पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रम्म आगन्। वैश्वानरोऽदब्ध स्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरिता दवद्यात् ॥

(यजुर्वेद ४।१५)

मुझको मन और आयु फिर फिर प्राप्त हो, प्राण और आत्मा मुझे फिर मिले, चक्षु और श्रोत्र मुझे फिर प्राप्त हो। वह (अदब्धः), हिंसा करने के अयोग्य, (तनूपाः) शरीर का रक्षक, (अग्नि) तेजस्वी ईश्वर, (नः) हमारी (अवद्यात्) निन्दित (दुरितात्) पापों से (पातु) रक्षा करता है।

अप्स्वग्ने सधिष्ठव सौषधीरनुरुध्यसे। गर्भेसन् जायसे पुनः ॥

(यजु० १२।३६)

(अग्ने) हे तेजस्वी जीव ! (शरीर छोड़ने के बाद) (सधि.) सहनशील (अप्सु) जलों और (ओषधीः) औषधि में (अनुरुध्यसे) प्राप्त होता है। (सः) वह तू (गर्भेसन्) गर्भ में स्थित होकर (पुनः, तव) फिर तेरा (जन्म होता है)।

प्रसद्यभस्मना योनिमपश्च पृथिवीमग्ने ।
सᳬसृज्य मातृभिष्ट्वं ज्योतिष्मान्पुनरासदः ॥

(यजु० १२।३८)

हे (अग्ने) तेजस्वी (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमय जीव ! (भस्मना) शरीर दाह के बाद (पृथिवीं, च, अपः) पृथिवी और जलों में होकर (योनि, प्रसद्य) (नवीन) योनि को प्राप्त होता हुआ (मातृभिः) माता के गर्भ से (पुनः, आसदः) फिर उत्पन्न होता है ।

धर्म और भाषा का भेद होने पर भी मिलकर रहना चाहिये

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥

(अथर्व० १२।१।४५)

(बहुधा विवाचसं) बहुत तरह की भाषा बोलने वाला, (नाना-धर्माणं) अनेक प्रकार के कर्तव्य रखने वाला होने पर भी (देश-वासियों को) (यथा, ओकसं) एक घर में रहने वालों की तरह (मिल कर रहना चाहिये तब) (पृथिवी, जनं, बिभ्रती) तब पृथिवी मनुष्यों की पालना किया करती है । और (सहस्र, द्रविणस्य, धारा) हजारों धन की धारायें, (ध्रुवा) निश्चित रीति से, (धेनुः, इव, दुहां) गायें जैसा दूध देती है, (अनपस्फुरन्ति) देने से नहीं रुकती ।

भावार्थ—मन्त्र में एक नियम बतलाया गया है कि जहाँ कहीं भाषा और धर्मों का भेद भी, देशवासियों में, हो तब भी घर की तरह पृथिवी पर उन्हें मिलकर रहना चाहिये तभी पृथिवी धन धान्य से उन्हें पूर्ण रख सकती है ।

इन्द्रिय विजय से सफलता

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः ।
गोजित् भूयासं अश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित ॥

(अथर्व० ७।५।८)

मेरे सीधे हाथ में (कृतं) कर्म = पुरुषार्थ है और विजय मेरे (सव्ये, आहितः) बायें हाथ में है । (मुझे पुरुषार्थ करने से पहले) (गोजित्) इन्द्रियों का विजयता होना चाहिये तब मैं (अश्वजित्) राष्ट्र का जीतने वाला, धन और सोने का जीतने वाला बनूँगा ।

तीन देवी

इडा सरस्वती मही तिस्रो देवीर्मयोभुवः ।
बर्हिः सीदन्तु अस्रिधः ॥

(ऋ० १।१३।९)

इडा = वाणी (भाषा), सरस्वती = विद्या और मही = मातृभूमि (मयोभुवः) कल्याण करने वाली और (अस्रिध) हानि न पहुंचाने वाली (तिस्र, देवीः) तीन देवियाँ हमारे (बर्हिः, सीदन्तु) अन्तःकरण में रहें ।

विश्व को आर्य बनाना

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ।
अपघ्नन्तो अराव्णः ॥

(ऋ० ९।६३।५)

(इन्द्रं, वर्धन्तः) परमेश्वर का यशगान और (अप्तुरः) श्रेष्ठ कर्म करते हुए (विश्वं, आर्यं, कृण्वन्तः) विश्व को आर्य बनाते और (अराव्णः, अपघ्नन्तः) पापियों को हटाते चलो ।

परमात्मा के अनेक नाम

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १।१६४।४६)

विप्राः=विद्वान्, परमात्मा के, (एकं सद्) होने पर भी, (बहुधा, वदन्ति) बहुत प्रकार से अर्थात् बहुत नाम से (उसको) कहते है। (अथ, उ) और (सः) उसीको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, (दिव्यः) अलौकिक (सुपर्णः) शक्ति युक्त, (गरुत्मान) गौरव वाला (यमं) न्यायकारी और (मातरिश्वानम्) वायु (आहुः) कहते हैं।

ईश्वर को सब विद्वान नहीं जानते

इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि व्रतानि देवा न मिनन्ति विश्वे ।
दाधार यः पृथिवीं द्यामुतेमां जजान सूर्य्यमुषसं सुदंसाः ॥

(ऋ० ३।३२।८)

(यः) जो (पृथिवीं, उत, इमां, द्याम्, दाधार) पृथिवी और इस द्युलोक को (उत्पन्न करके) धारण कर रहा है (और जिस) (सुदंसाः) श्रेष्ठ कर्मा ने (सूर्य्यम्) सूर्य, (उषसं) और उषा को (जजान) उत्पन्न किया है (उस) (इन्द्रस्य, कर्म) इन्द्र के कर्मों को, जो (पुरूणि) बहुत, (व्रतानि) नियमबद्ध और (सुकृता) अच्छी तरह से किये हुए हैं, (विश्वे, देवाः) सब विद्वान (न, मिनन्ति) नहीं जानते ।

ईश्वर की उपासना प्रातः और सायंकाल अवश्य करनी चाहिये

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधिवयंत्वेन्धानास्तन्वं पुपेम् ॥

(अथर्व० १९।५५।३)

(सायं, साय, प्रातः, प्रातः) सदैव सायं और प्रातः काल (नः, गृहपतिः) हमारे घरों के रक्षक (अग्निः) तेजस्वी ईश्वर ! (वसोः, वसोः) आप, उत्तम-उत्तम (वसुदानः) धनों के देनेवाले और (सौमनस्य, दाता) सुख के दाता (एधि) हो। (त्वा) आपको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुए, (वयं, तन्वं पुपेम्) हम (अपने) शरीर को पुष्ट करें ।

प्रातः प्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायं सायं सौमनस्य दाता ।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि इन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम् ॥

(अथर्व० १९।५५।४)

प्रत्येक प्रातः और सायंकाल हमारे घरों के रक्षक तेजस्वी ईश्वर ! आप उत्तम उत्तम धनों के देनेवाले और सुख के दाता हो। आप (के गुणों) को प्रकाशित करते हुये हम (शतं, हिमाः, ऋधेम्) सौ वर्ष (पूर्ण आयु वाले होकर) बढ़ते रहें ।

उपत्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ।
नमो भरन्त एमसि ॥

(ऋ० १।१।७)

(अग्ने) हे तेजस्वी ईश्वर ! (दिवे, दिवे प्रति दिन। (दोषा—वस्तः) रात्रि और दिन में (वय) हम (धिया) बुद्धि पूर्वक (नमः, भरन्तः) नमस्कार करते हुये (त्वा) आपके (उप) समीप (आ—इमसि) आते हैं ।

उपासना के लिये प्राकृतिक दृश्य

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम् ।
धिया विप्रो अजायत ॥

(ऋ० ८।६।२८)

(गिरीणां) पहाड़ों की (उपह्वरे) गुफाओं मे (नदीनां, संगमे, च) और नदियो के संगम पर (धिया) ध्यान करने से (विप्र., अजायत) ब्राह्मण बना करते हैं ।

विष्णु का परमपद

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूर्यः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥

(ऋ० १।२२।२०)

(तत्, विष्णोः, परमं, पदम्) उस व्यापक परमेश्वर के श्रेष्ठ रूप को (सूर्यः) ज्ञानी पुरुष (सदा, पश्यन्ति) सदैव देखते हैं (दिवि, इव, आततम्, चक्षुः) जैसे द्युलोक मे व्याप्त सूर्य को (देखते हैं) ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टि वर्धनम् ।
उर्वारुकमिवबन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥

(ऋ० ७।५६।१२)

(त्र्यम्बकं) तीनों काल मे एक रस रहने वाले परमात्मा की जो (पुष्टि, वर्धनम्) बलदाता और (सुगन्धिम्) यशस्वी है, (यजामहे) हम स्तुति करते है। (हे प्रभो !) (उर्वारुकम्, इव) जैसे पका हुआ खरबूज़ा (बन्धनात्) लता बन्धन से (छूट जाता है, वैसे ही) (मृत्योः) मृत्यु से (मुक्षीय) हम छूट जावें (अमृतात्, मा) मोक्ष से न छूटें ।

रक्षा की प्रार्थना

पाहिनो अग्ने रक्षसः पाहि धूर्तेर राव्णः ।
पाहि रीवत उतवा जिघांसतो बृहद्भानोयविष्ठय ॥

(ऋ० १।३६।१५)

हे (बृहद्भानो) महा तेजस्विन , (यविष्ठय) महाबलिन् (अग्ने) ज्ञान रूप प्रभो ! (नः) हमें (रक्षसः, पाहि) राक्षसों से बचाओ (धूर्तेः, अराव्णः) धूर्त और कृपणों से (पाहि) बचाओ (रीवतः) पीड़ा देने वाले, (उतवा) और (जिघांसतः) मारने की इच्छा रखने वालों से (पाहि) रक्षा करो ।

शंनो मित्रः शंवरुणः शंनो भवत्वर्य्यमा ।
शंन इन्द्रो बृहस्पतिः शंनो विष्णुरुरुक्रमः ॥

(ऋ० १।९०।९)

मित्र (परमात्मा) हमारे लिये सुखदायक हो, वरुण (श्रेष्ठ ईश्वर) शान्तिप्रद हो, (अर्यमा) न्यायकारी (नः, शम्) हमें सुख देवे (इन्द्रः, नः, शम्) इन्द्र हमारे लिये सुखदाता हो, बृहस्पति, (उरुक्रमः) महाबली विष्णु हमारे लिये कल्याणप्रद हों ।

अन्न की प्रार्थना

अन्नपतेऽन्नस्यनोदेह्यनमीवस्य शुष्मिणः ।
प्रप्रदातारं तारिप ऊर्जंनोधेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

(यजु० ११।८३)

हे अन्न के स्वामी (नः, अन्नस्य, प्रदेहि) हमें अन्न देवें । (अनमीवस्य) जो रोगकारक न हो, (शुष्मिणः) बलदायक हो । (प्रदातारम्) (मनुष्यों में) अन्नदाता को (प्रतारिपः) तृप्त कर (नः द्विपदे) हमारे

दो पॉव वाले = मनुष्य और (चतुष्पदे) चार पाँव वाले (पशुओ) को (ऊर्जम्, धेहि) पराक्रम को धारण करावें।

जगत जीव के अनुकूल हो

कल्पन्तांतेदिशस्तुभ्यमापः शिवतमास्तुभ्यं भवन्तु सिन्धवः।
अन्तरिक्षᳬशिवं तुभ्यं कल्पन्तांते दिशः सर्वाः ॥

(यजुर्वेद ३५।९)

(हे जीव !) तेरे लिये दिशायें (शिवतमाः) सुखकारी (कल्पन्ताम्) हों, (आपः) जल, (सिन्धवः) नदियॉ, अन्तरिक्ष और समस्त (उपदिशाओं सहित) दिशाये तेरे लिये कल्याणप्रद हो।

पवित्रता

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसाधियः।
पुनन्तु विश्वाभूतानि जातवेदः पुनीहिमा ॥

(यजुर्वेद-१९।३९)

मुझे देवजन पवित्र करे, मन और बुद्धि से पवित्र करे, समस्त प्राणी पवित्र करे और (जातवेदः) वेदोत्पादक परमेश्वर मुझे (पुनीहि) पवित्र करे।

इन्द्र शुद्धो न आगहि शुद्धः शुद्धाभिरूतिभिः।
शुद्धोरयिं नि धारय शुद्धोममद्धि सोम्यः ॥

(ऋग्वेद ८।९५।८)

हे (शुद्धः) शुद्धस्वरूप (इन्द्र) इन्द्र ! (नः, आगहि) हमे प्राप्त हों, (शुद्धाभिः, ऊतिभिः) पवित्र रक्षा साधनों से (शुद्धः) पवित्र करें (जिससे) (शुद्धः, रयिं, निधारय) हम शुद्ध (ईमान-

दारी और परिश्रम से कमाये हुये) धन को धारण करें। (शुद्धः, साम्यः, ममद्धि) हे शुद्ध और सौम्य (हमें) आनन्दित करे।

पाप से बचना

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चक्रमा वयम्।
यूयंनस्तस्मान्मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः॥

(अथर्ववेद ६।११५।१)

हे (विश्वेदेवाः) समस्त विद्वानो = समाज के नेताओ! (यत्, विद्वांसः) जो जानकर और (यत्, अविद्वांसः) जो अनजान से (एनांसि, वयं, चक्रम) पाप हमने किये हैं (तस्मात्) उससे (नः) हमे (यूय, सजोषसः) आप प्रेम के साथ (मुंचत) छुड़ाओ।

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णंबृहस्पतिर्मे तद्दधातु। शंनो भवतु भुवनस्ययस्पतिः॥

(यजुर्वेद ३६।२)।

(यत्) जो (मे) मरे (चक्षुषः, हृदयस्य, वा, मनसः) आँख, हृदय और मन के (अति-तृण्णं) अत्यंत फटा हुआ (भारी) (छिद्रं) छिद्र = दोष है (तत्, मे) उस मेरे (दोष को) (वृहस्पतिः, दधातु) वृहस्पति = ज्ञानेश्वर परमात्मा ठीक करे। (यः, भुवनस्य, पतिः) जो जगत् का स्वामी है वह (नः, शं, भवतु) हम सबका कल्याण करे।

यदिजाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुंचताम्॥

(अथर्ववेद ६।११५।२)

यदि जागते हुये, यदि सोते हुये (स्वप्न मे) (एनस्यः, एन) पाप के साधनों से पाप (अकरं) किया हो। वह (भूतं, भव्यं) भूतकालीन हो या भविष्यत से सम्बन्धित हो (द्रुपदात्, इव) काष्ठ

के बन्धन से छुटने के समान (मा, मुंचताम्) मुझे (ईश्वर उससे) छुडावे।

तीन अनादि पदार्थ

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(ऋग्वेद १।१६४।२०)

(स-युजा सखाया) साथ मिले-जुले सखा (द्वा सुपर्णा) दो पक्षी (ईश्वर तथा जीव) (समाने वृक्षे) एक ही वृक्ष [प्रकृति] पर [परिषस्वजाते] साथ-साथ रहते हैं। [तयोः, अन्यः] उनमें एक =जीव [स्वादु, पिप्पलं] स्वादिष्ट फल [अत्ति] खाता है [अन्यः] दूसरा [=परमेश्वर] [अनश्नन्] न खाता हुआ [अभिचाकशीति] साक्षी मात्र रहता है।

त्रयः केशिन ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥

[ऋग्वेद १।१६४।४४]

[त्रयः] तीन [केशिनः] प्रकाशित [पदार्थ] ऋतुथा=नियमानुसार [विचक्षते] विविध कार्य कर रहे हैं [एषाम्] इनमें से [एकः] एक=परमेश्वर [संवत्सरे] सन्धिकाल [प्रलय और जगत् के मध्य] मे [वपते] बीज डालता है अर्थात् ईक्षण से गतिशून्य प्रकृति मे गति का संचार करता है। [एकः] एक [दूसरा जीव] शचिभिः= अपने सामर्थ्य से [विश्वम्] जगत् को [अभिचष्टे] दोनो ओर [लोक और परलोक की दृष्टि से] देखता है। [एकस्य] एक [तीसरी प्रकृति] का [ध्राजि-ददृशे] वेग [कार्य रूप में] दिखाई देता है [रूप, न] रूप नहीं [दिखाई देता]। अर्थात् प्रकृति का कार्य्य तो दिखाई देता है परन्तु स्वयं प्रकृति को कोई नहीं देख सकता।

सदैव सत्य की अधीनता

ऋतावान् ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विपः।
तेषां वः सुम्ने सुच्छर्दिष्टमे नरः स्याम ये च सूर्यः ॥

[ऋग्वेद ७।६६।१३]

[जो मनुष्य] ऋतावान्=सत्य के पक्षपाती ऋतजाताः=सत्य की रक्षा करने वाले ऋतावृधः=सत्य की वृद्धि करने वाले और [घोरास. अनृतद्विपः] झूठ के घोर विरोधी होते हैं [तेपाम् वः] उन [आप] की सुम्ने=शरण में (नरः, स्याम्) हम सब मनुष्य होवें (ये, च, सूर्यः) और जो विद्वान हैं (वे भी उनका आशरा पकड़ें)।

अग्नेव्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयंतन्मेराध्यताम्।
इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि ॥ (यजुर्वेद १।५)

हे व्रतपते अग्ने परमेश्वर ! (अनृतात्, सत्यं, उपैमि) झूठ से (पृथक् होकर) सत्य को प्राप्त करूं, (इदं, व्रतं, चरिष्यामि) मै इस व्रत का आचरण करूँगा (मे, तत्, राध्यतां) मेरे इस व्रत को आप सिद्ध करें, जिससे (अह, शकेयम्) में (इस व्रत के पालने मे) समर्थ होऊं।

जुआ खेलने से दुःख

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येपांजायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि वभ्रून्तसो अग्नेरन्ते वृपलः पपाद॥

(ऋग्वेद १०।३४ ११)

(अन्येपां, जायां, स्त्रियं) अन्यों की उत्तम स्त्रियों, (सुकृतम्) अच्छे कर्म (च, योनिम्) और घर को (दृष्ट्वाय) देख कर (कितवं) ज्वारी (तताप.) दुखी होता है। (पूर्व-अन्ते) सवेरे (जो जुयेबाज) वभ्रून्=भूरे रंग वाले (अश्वान्) घोडो को (गाडी मे) (युयुजे) जोतता था (सः, हि) वही (वृपलः) अधर्मी जुयेब (जाजुये मे

सब कुछ खोकर सरदी मिटाने के लिये) (अग्नेः, अन्ते) अग्नि के समीप (पपाद) गिरता=बैठता है ।

अक्षैर्मादीव्यः कृषिमित्कृषस्ववितेरमस्वबहुमन्यमानः ।
तत्रगावः कितवतत्रजायातन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥

(ऋग्वेद १०।३४।१३)

(कितव) हे जुआरी ! (अक्षैः, मा, दीव्यः) जुआ मत खेल (कृषिं, इत, कृषस्व) खेती कर (बहुमन्यमानः, विते, रमस्व) बहुत समझते हुये अपने धन को भोग, (तत्र, गावः) वहाँ गायें है (तत्र, जाया) वहाँ तेरी पत्नी (उन्हें देख) । (अयं, अर्यः, सविता) यह (उपदेश) श्रेष्ट सविता सृष्टिकर्ता परमेश्वर (तत्, मे, विचष्टे) मुझे (मनुष्यो को) देता है ।

छ शत्रुओं का दमन

उलूकयातुं शुशलूकयातुंजहिश्वयातुमुत कोकयातुम् ।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र ॥

(अथर्ववेद ८।४।२२)

(उलूकयातुं) उल्लू के समान व्यवहार अर्थात् अन्धकार प्रियता=अज्ञान, (शुशलूक यातुम्) भेड़िये का-सा व्यवहार=क्रूरता, (श्वयातु) कुत्ते का-सा व्वयहार=अपनी जाति वालों से लड़ना तथा अन्यों के सामने दुम हिलाना=खुशामद करना, (कोकयातुम) चिड़ियों का-सा व्यवहार=कामातुरता, (सुपर्णयातुम्) गरुण का-सा व्यवहार=अभिमान, (गृध्रयातुम्) गिद्धो के व्यवहार=अन्यों के पदार्थों का लोभ, (ये छ अज्ञान, क्रूरता, पारस्परिक विद्वेष, कामातुरता, अभिमान और लोभ शत्रु है, इन्हें) (इन्द्रः) हे इन्द्र परमेश्वर ! (जहि) मार और दृष्दा इव=पत्थर से मारने के सदृश इन (रक्षः, प्रमण) राक्षसो को दूर कर ।

वेदमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानीद्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ॥
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ॥ (अथर्ववेद १९।७१।१)

(प्रचोदयन्तां) उत्साह से प्रेरणा करने वाली (द्विजानां, पावमानी) द्विजों के पवित्र करने वाली (वरदा) वर=श्रेष्ठता देने वाली (वेदमाता) वेदमाता है। हे माते! (मया, स्तुता) मेरी स्तुति से आयु, प्राण, प्रजा=सन्तान, पशु, कीर्ति, (द्रविणं) धन और (ब्रह्म वर्चसम्) ज्ञान बल (मह्यं, दत्त्वा) मुझे देकर (ब्रह्मलोकं व्रजत) ब्रह्मलोक प्राप्त करा।

शान्ति पाठ

द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवीशान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳशान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ (यजुर्वेद ३६।१७)

(द्यौः) प्रकाशक लोग, (अन्तरिक्ष, पृथिवी) अप्रकाशक लोग, जल, औषधि, गेहूँ, जौ आदि, (वनस्पति)आम और वट आदि वृक्ष, समस्त देव शान्ति देने वाले हो, ईश्वर भी हमे शान्ति दे, समस्त पदार्थ शान्तिप्रद हो, शान्ति भी शान्तिदायक हो, (सा, शान्ति) वह शान्ति (मा, एधि) मुझे प्राप्त होवे।

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः

शान्तिभिः सर्वं शान्तिभिः शमया मोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिहपापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः ॥

(अथर्ववेद १९।९।१४)

(मे, पृथिवी, शान्तिः) हमारे लिये पृथिवी शान्तिप्रद हो, (अन्तरिक्षं, शान्ति) अन्तरिक्ष शान्ति देवे, (द्यौः, शान्तिः) द्यौ शान्तिदायक हो, जल, ओषधि और वनस्पति शान्तिकारक हो, मेरे लिये सम्पूर्ण देव शान्ति दाता हो, मेरे लिये समस्त विद्वान शान्ति देवें, (शान्तिः, शान्तिः) शान्ति (भी) शान्ति हो, (शान्तिभिः ताभिः, शान्तिभिः, सर्व शान्तिभिः) इन शान्तियों, सुखो और पूर्ण निर्विघ्नताओं से (मोहं, शमय) मोह का शमन हो, (यत् इह, घोरं) जो यहाँ भयंकरता हो, (यत्, इह, क्रूरं) जो यहाँ क्रूरता हो, (यत्, इह, पापं) जो यहाँ पाप हो (तत्, शान्तं, तत्, शिवं) वे सब शान्त और कल्याणप्रद हों (सर्वं, एव, नः, शमस्तु) सभी हमारे लिये शान्ति देने वाले हो।

झंडे का रंग

धूमाक्षी संपततु कृधु कर्णौ च क्रोशतु ।
त्रिषन्धे सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥

(अथर्ववेद ११।१०।७)

(धूमाक्षी) धुयें से पीड़ित चक्षु होकर (शत्रु की सेना) (संपततु) भाग जाय (कृधु, कर्णौ, च) और कान दबा कर [क्रोशतु] चीखने लगे [त्रिषन्धे] त्रिसन्धि [नाम वाले महास्त्र] के बल पर [सेनया, जिते] सेना द्वारा जीत कर [अरुणाः, केतवः, सन्तु] लाल रंग वाले झंडे फहराये जावे।

पढ़ने योग्य अपूर्व पुस्तकें

क्रान्तिकारी बाला	१।)	बालगीत संग्रह	=)
भक्तिदर्पण	१।)	आर्याभिविनय	।≋)
विदुर नीति	१)	आर्य उपदेश रत्नमाला	।।।
चाणक्य नीति	।।=)	सत्यनारायण कथा	=)
भर्तृहरि शतक	।।।)	वैदिक सन्ध्या	३) सै०
व्यापार रहस्य	२।।)	तुलसीदास का मुकदमा	१।।)
ब्रह्मचर्य की महिमा	१।)	मनोबल 'जेम्स एलेन'	।।)
ब्रह्मचर्य के नियम	=)	शान्ति की विजययात्रा ,,	।।)
संस्कार विधि	।≋)	जीवन ज्योति 'दीवानचन्द'	।।)
नगमये मुसाफिर	।-)	ओंकार उपासना 'स्वामी सत्यानन्दजी'	।)
दृष्टान्तसागर प्रथम भाग	२)	मातृत्व की ओर 'रघुनाथ प्रसाद'	१।)
,, द्वितीय ,,	।।।)	महिला सत्यार्थप्रकाश 'विश्वप्रकाश'	।।)
,, तृतीय ,,	।।)	गरीब बच्चे (कहानियाँ)	।।)
,, चतुर्थ ,,	।।।)	कवितावली सटीक	१।)
स्त्री सुबोधिनी	४)	दोहावली ,,	१)
कन्या शिक्षा दर्पण	।।।)	उर्दू के कवि और उनका काव्य	३।।)
तेजसिंह गीताञ्जलि	।-)	देवयज्ञ प्रकाश 'वाचस्पति एम ए.'	।।)
तेजसिंह भजन भास्कर	।।।)	ध्यानयोग प्रकाश	२।।)
मुसाफिर भजनावली	।।।)	प्रार्थना सुमन	।।)
तेजप्रकाश भजनावली	≋)	योगदर्शन 'प्रो. राजाराम'	१।।)
ओ३म् गीताञ्जलि	≡)	गीता ,,	१।।)
लखनऊ की महाराजिन	१)	विदेशों में आर्यसमाज	।।)
जयपुर रहस्य	३) ३।।)	दुन्दुभि 'कविता'	।)
किसान सन्देश	।)	कविराजी गृह चिकित्सा	।=)
किरण 'कविता'	।।।)	मित्रता	।।।)

सार्वदेशिक सभा, देहली और पंजाब की पुस्तकें यहाँ मिलती हैं।

पता—प्रेम पुस्तक भण्डार, बरेली।